'मास्टर' मणिमालाया: अष्टसप्ततिसंख्यकोमणि: (द० वि० ४)

श्रीमच्छङ्कराचार्यप्रणीत:—

आत्मबोध:

[सान्वयभाषार्थविभूषित:]

सम्पादक:—

श्रीमन्नालाल 'अभिमन्यु' एम० ए०

प्रकाशक:—

मास्टर खेलाड़ीलाल ऐण्ड सन्स,

कचौड़ीगली, बनारस सिटी।

मूल्यम् ॥)

125

'मास्टर' मणिमालायाः ७८ संख्यको मणिः (दर्शनविभागे ४)

श्रीमच्छङ्कराचार्यप्रणीतः—

आत्मबोधः ।

सान्वयभाषार्थविभूषितः ।

—:o:—

मास्टर प्रिण्टिङ्ग वर्क्स मुद्रणागाराधिप-

श्रीमन्नालाल 'अभिमन्यु' एम० ए०

द्वारा सम्पादितः ।

———

स च

'काशीस्थ संस्कृत बुकडिपो' इत्यस्याध्यक्षैः

मास्टर खेलाड़ीलाल ऐण्ड सन्स् महोदयैः

स्वीये 'मास्टर प्रिण्टिङ्ग वर्क्स' नाम्नि मुद्रणागारे

मुद्रयित्वा प्रकाशितः ।

—o—

मूल्यम् ॥)

प्रकाशकः—
जे० एन० यादव, प्रोप्राइटर,
मास्टर खेलाड़ीलाल ऐण्ड सन्स,
कचौड़ीगली, बनारस सिटी ।

मुद्रकः—
मास्टर प्रिण्टिङ्ग वर्क्स,
बुलानाला, बनारस ।

आत्मबोधः ।

सान्वयभाषार्थविभूषितः ।

तपोभिः क्षीणपापानां शान्तानां वीतरागिणाम् ।
मुमुक्षूणामपेक्षोऽयमात्मबोधो विधीयते ॥ १ ॥

सान्वय भावार्थः—(तपोभिः) तपस्या करते २ अर्थात् अनेक प्रकार के कठिन व्रतादि के करने से (क्षीणपापानां) जिनके अन्तःकरण से रागद्वेषादि दूर हो गये हैं, और पापों का नाश हो गया है, (शान्तानाम्) जिनके चित्त की वृत्तियां शान्त हो गयी हैं, (वीतरागिणाम्) भोग वासनाओं का भी नाश हो गया है, (मुमूक्षाणां) जो जन्म मरणादि बन्धनों से मुक्त होकर (अपेक्षः) मोक्ष चाहते हैं, ऐसे पुरुषों के लिए ही (अयम्) यह (आत्मबोधः) आत्मबोध नामक ग्रन्थ (विधीयते) बनाया जाता है ॥ १ ॥

शङ्का—सब शास्त्रों में जप तपादि से मोक्ष होना लिखा है, यहां केवल आत्मज्ञान से ही मोक्ष का उल्लेख क्यों है ?

समाधान—

बोधोऽन्यसाधनेभ्यो हि साक्षान्मोक्षैकसाधनम् ।
पाकस्य वह्निवज्ज्ञानं विना मोक्षो न सिद्ध्यति ॥ २॥

सान्वय भाषार्थः—(हि) क्योंकि (अन्यसाधनेभ्यः) जो जो जप तप कर्म योगादि मोक्ष के साधन हैं उनमें (मोक्षैक-साधनं) मोक्ष का मुख्य साधन रूप (बोधः) बोध अर्थात् आत्मज्ञान ही है। (पाकस्य) जैसे पाक बनाने में बर्तन, लकड़ी, जल इत्यादि की आवश्यकता पड़ती है (वह्निवत्) किन्तु पाक में मुख्य कारण अग्नि ही है और जो अन्य कारण हैं वे सहकारी कारण हैं। अत एव (ज्ञानं विना) ज्ञान के बिना (मोक्षो न सिद्ध्यति) मोक्ष की प्राप्ति नहीं हो सकती। यहां श्रुति प्रमाण हैं जैसे—"ज्ञानादेव तु कैवल्यम्" "ऋते ज्ञानान्न मुक्तिः" अर्थात् ज्ञान के बिना मुक्ति नहीं होती है। और अन्य जो उपासना आदि कर्म हैं वे केवल अन्तःकरण की शुद्धि के लिए हैं, जैसा स्मृति में लिखा है कि—"तपसा कल्मषं हन्ति विद्ययाऽमृतमश्नुते।" अर्थात् तप से अन्तःकरण का कल्मष दूर होता है और विद्या से मोक्ष की प्राप्ति होती है।

शङ्का—राजा विदेह आदि तो श्रेष्ठ कर्मों से ही उच्च गति को प्राप्त हो गये, इसलिए श्रेष्ठ कर्म करने से जब अज्ञान का नाश हो जाता है तब स्वयं मुक्ति हो जायगी, फिर ज्ञान से अज्ञान का नाश मानना निरर्थक है?—

अविरोधितया कर्म नाविद्यां विनिवर्तयेत् ।
विद्याऽविद्यां निहन्त्येव तेजस्तिमिरसंघवत् ॥ ३ ॥

सान्वय भाषार्थः—(कर्म) कर्म और (अविद्याम् अविरोधितया) अविद्या परस्पर एक दूसरे के विरोधी नहीं हैं, इसलिए कर्म अविद्या को (न विनिवर्तयेत्) दूर करने में किसी तरह समर्थ नहीं हैं; किन्तु (विद्या अविद्याम्) विद्या और अविद्या आपस में एक दूसरे के विरोधी हैं। सुतरां (तेजः तिमिरसंघवत्) जब प्रकाश का उदय होता है तब अन्धकार का नाश हो जाता है। उसी तरह विद्या अविद्या को (निहन्ति एव) दूर करने में समर्थ है। विद्या, जैसे 'शुद्ध मुक्ति स्वरूप हूँ' यह शुद्ध ज्ञान 'मैं सुखी हूँ' 'मैं दुःखी हूँ' इत्यादि अविद्या को नष्ट कर देता है॥ ३॥

परिच्छन्न इवाज्ञानात्तन्नाशे सति केवलः।
स्वयं प्रकाशते ह्यात्मा मेघापायेंऽशुमानिव ॥४॥

सान्वय भाषार्थः—(मेघापाये) अखण्ड सूर्य मण्डल मेघमाला अर्थात् बादलों के समूह से आच्छादित हो जाता है तब उसकी ज्योति जिस तरह जगह २ बादलों के छिद्रों में से प्रकाशित होती है और जब धीरे धीरे हट जाता है तब (अंशुमान् इव) सूर्य मण्डल का पूर्ण प्रकाश हो जाता है। इसी तरह (आत्मा) जीव इस (अज्ञानात्) अविद्या रूप देह में (परिच्छिन्न इव) घिरा रहता है तब तक अखण्ड आत्मतत्व का ज्ञान नहीं होता और (तन्नाशे सति) जब अविद्या दूर हो जाती है तब (केवलः स्वयं) स्वयं ही प्रकाशवान् ब्रह्मरूप (प्रकाशते) प्रतीत होने लगता है॥ ४॥

शंका—अज्ञान के नष्ट होनेपर आत्मा का अद्वितीय होना सिद्ध नहीं होता क्योंकि अज्ञान को नाश करने वाली वृत्ति का जब ज्ञान होगा तब द्वैत की सिद्धि होगी, इसका समाधान यह हैः—

अज्ञानकलुषं जीवं ज्ञानाभ्यासाद्धि निर्मलम् ।
कृत्वा ज्ञानं स्वयं नश्येज्जलं कतकरेणुवत् ॥ ५ ॥

सान्वय भाषार्थः—(कतकरेणुवत्) जैसे निर्मली बूटी गँदले (जलं) जलको ('निर्मलं कृत्वा') शुद्ध करके ('स्वयं') आप भी ('नश्येत्') नष्ट हो जाती है वैसेही (ज्ञानाभ्यासात्) 'मैं कर्ता नहीं हूँ' 'मैं भोक्ता नहीं हूँ', 'मैं सच्चिदानन्द ब्रह्म हूँ', इस प्रकारका (ज्ञानं) ज्ञान, (अज्ञानकलुषं) 'मैं कर्ता हूँ,' 'मैं भोक्ता हूँ', इस अज्ञानसे मलिन जो (जीवं) जीवात्मा है उसको (निर्मलं कृत्वा) निर्मल करके (स्वयं) आप भी (नश्येत्) नष्ट हो जाता है ॥ ५ ॥

शंका—जो कदाचित् यह कहो कि संसार तो साक्षात् दीखता हुआ सत्य प्रतीत होना है तो ब्रह्म की अद्वैतता किस प्रकार सिद्ध हो सकती है? तो इस शंकाका समाधान करते हैं—

संसारः स्वप्नतुल्यो हि रागद्वेषादिसङ्कुलः ।
स्वकाले सत्यवद्भाति प्रबोधेऽसत्यवद्भवेत् ॥ ६ ॥

सान्वय भाषार्थः—(रागद्वेषादिसंकुलः) रागद्वेष आदि से व्याप्त यह (संसारः) संसार (स्वप्नतुल्यः) स्वप्न के तुल्य

है; (हि) क्योंकि (स्वकाले) स्वप्न के समय की जो अवस्था है वह स्वप्न काल में ही (सत्यवत्) सत्य सी (भाति) दीखती है, किन्तु (प्रबोधे सति) जब प्रबोध होता है अर्थात् जाग्रत् अवस्था का आरम्भ होता है तब आत्मा और ब्रह्म की एकता के ज्ञान के पीछे एक क्षण में (असत्यवत्) असत्य (भवेत्) दीखने लगता है; अतएव मिथ्या जगत् से आत्मा को अद्वैतता में हानि नहीं हो सकती है ॥ ६ ॥

शंका—जो कदाचित् यह कहो कि जब संसार यथार्थ में मिथ्या ही है तो सत्य और असत्य कब तक और किस प्रकार प्रतीत होता है, तो इसका समाधान करते हैं—

तावत्सत्यं जगद्भाति शुक्तिकारजतं यथा।
यावन्न ज्ञायते ब्रह्म सर्वाधिष्ठानमद्वयम् ॥७॥

सान्वय भाषार्थः—(यथा) जैसे (यावत्) जब तक यह (न ज्ञायते) ज्ञान नहीं होता है कि यह (शुक्तिकारजतम्) नील पृष्ठवाली त्रिकोणाकार सीपी है (तावद् एव) तभी तक ('तथा') सीपी का रजत (चाँदी) (सत्यं भाति) सत्यसा दीखता है (तथैव') उसी प्रकार (यावत्) जब तक (सर्वाधिष्ठानं) सब के अधिष्ठान (अद्वयं) अद्वैत (ब्रह्म) ब्रह्म का (न ज्ञायते) ज्ञान नहीं होता है (तावत् एव) तभी तक (जगत्) यह संसार (सत्यं भाति) सत्य दीखता है और उसके पीछे तो मिथ्याही प्रतीत होने लगता है ॥७॥

शंका—अब दृष्टान्त से इस बात को दृढ करते हैं कि सम्पूर्ण जगत् ब्रह्म में कल्पित है—

सच्चिदात्मन्यनुस्यूते नित्ये विष्णौ प्रकल्पिताः ।
व्यक्तयो विविधाः सर्वा हाटके कटकादिवत् ॥८॥

सान्वय भाषार्थः—(सच्चिदात्मनि) सच्चिदानन्द आत्मा (अनस्यूते) जैसे मणियों में सूत्र गुहा रहता है और मणि सूत्र में अनुगत है इसी प्रकार सब में (नित्ये) नित्य और (विष्णौ) व्यापक है और (सर्वाः) जगत् की (विविधाः) अनेक प्रकार की (व्यक्तयः) व्यक्तियां अर्थात् देव मनुष्य कीटादि उसमें ऐसे (प्रकल्पिताः) कल्पित हैं (हाटके कटकादिवत्) जैसे सुवर्ण में कटककुण्डलादि, परन्तु यथार्थ में सुवर्ण ही सत्य है ; इसलिए नामरूपात्मक मिथ्या है और आत्मा शुद्ध स्वरूप है ॥ ८ ॥

शंका—जो कहो कि प्रपञ्च तो मिथ्या है और जीव भेद सत्य है इसलिये प्रपञ्च का अधिष्ठान रूप जो परमात्मा है उसे सत्य और अद्वितीय कैसे कहें, इस शंका का समाधान सुनो—

यथाकाशो हृषीकेशो नानोपाधिगतो विभुः ।
तद्भेदाद्भिन्नवद्भाति तन्नाशे सति केवलः ॥ ९ ॥

सान्वय भाषार्थः—(यथा) जैसे (आकाशः) आकाश तो (विभुः) व्यापक रूप है किन्तु (नानोपाधिगतः) घट आदि उपाधियों में प्राप्त होने से (तद्भेदात्) उसी उपाधि

के भेद से (भिन्नवत्) घटाकाश इत्यादि (भाति) प्रतीत होता है और (तन्नाशे सति) घटादि पदार्थों के नष्ट होने पर (केवलः) केवल आकाश मात्र शेष रह जाता है, उसी प्रकार (हृषीकेशः) हृषीकेश अर्थात् सम्पूर्ण इन्द्रियों का परमात्मा अनेक प्रकार की देहादि उपाधियों में प्राप्त होने से भिन्न २ प्रतीत होता है किन्तु उपाधियों के नष्ट होने पर केवल एक अद्वितीय असङ्ग ब्रह्म ही ('भवति') रह जाता है ॥ ९ ॥

शंका—जो यह कहो कि आत्मा तो 'मैं ब्राह्मण हूँ' 'मैं सन्यासी हूँ' इत्यादि जाति वर्ण आश्रम आदि अनेक प्रकार के धर्मों से युक्त प्रतीत होता है तो आत्मा को असंग कैसे ठहराते हो ? इस शंकाका समाधान सुनो—

नानोपाधिवशादेव जातिनामाश्रमादयः ।
आत्मन्यारोपितास्तोये रसवर्णादिभेदवत् ॥१०॥

सान्वय भाषार्थः—(नानोपाधिवशाद् एव) अनेक प्रकार प्रकार को उपाधियों के वश से (जातिनामाश्रमादयः) जाति नाम आश्रमादिक (आत्मनि) आत्मा में (आरोपिताः सन्ति) रख लिए गये हैं, यथार्थ में नहीं हैं (तोये रसवर्णादिभेदवत्) जैसे जलमें कडुआ, मीठा, कसैला, रस घोल देने से उस जलका स्वाद वैसाही लगने लगता है; और नील पीत आदि रंग घोल देने से नीला पीला दीखने लगता है; सो यह बात केवल दूसरी वस्तु के मिला देने से होती है, परन्तु जल में कोई विकार नहीं है, इसका गुण तो यथार्थ में श्वेत और मिष्ठ है। उसी

प्रकार अनेक उपाधिगत होने से आत्मा में भी अनेक जाति नाम और आश्रमादि आरोपित कर लिए गये हैं, वास्तव में जैसे जल निर्मल और शुद्ध है वैसे ही आत्मा भी शुद्ध और निर्मल है ॥१०॥

पञ्चकृतमहाभूतसम्भवं कर्मसञ्चितम् ।
शरीरं सुखदुःखानां भोगायतनमुच्यते ॥११॥

सान्वय भाषार्थः—(पञ्चीकृतमहाभूतसम्भवं) पञ्चीकरण किए गए जो पृथ्वी आदि पञ्चभूत जगत् के उपादान कारण हैं उनसे उत्पन्न हुआ और (कर्मसञ्चितं) प्रारब्ध के कर्मों से सञ्चित अर्थात् रचित् जो (शरीरं) शरीर है सो (सुखदुःखानां) सुखदुःख के (भोगायतनं) भोगने का स्थान (उच्यते) कहा जाता है ॥११॥

पञ्चप्राणमनोबुद्धिदशेन्द्रियसमन्वितम् ।
अपञ्चीकृतभूतोत्थं सूक्ष्माङ्गं भोगसाधनम् ॥१२॥

सान्वय भाषार्थः—(पञ्चप्राणमनोबुद्धिदशेन्द्रियसमन्वितं) प्राण, अपान, व्यान, उदान, समान पञ्च प्राण, मन, बुद्धि, तथा दशेन्द्रिय-पाँच ज्ञानेन्द्रिय (आंख, कान, नाक, जीभ, त्वचा) और पाँच कर्मेन्द्रिय (गुह्य, लिंग, हस्त, पद, आस्य) ये सब मिलकर सत्रह अङ्गों से युक्त (अपञ्चीकृतभूतोत्थं) अपञ्चीकृत भूत गठित (सूक्ष्माङ्गं) सूक्ष्म देह (भोगसाधनं) भोग का साधन ('उच्यते') है ॥१२॥

अनाद्यविद्याऽनिर्वाच्या कारणोपाधिरुच्यते ।
उपाधित्रितयादन्यमात्मानमवधारयेत् ॥ १३ ॥

सान्वय भाषार्थः—(अनाद्यविद्याऽनिर्वाच्या) अनादि और अनिर्वाच्या जो अविद्या उसी को (कारणोपाधिः) कारण रूप उपाधि (उच्यते) दी गई है, परन्तु (आत्मानं) आत्मा को (उपाधित्रितयात्) ऊपर लिखी हुई स्थूल सूक्ष्म और कारण इन तीन उपाधियों से (अन्यं) भिन्न (अवधारयेत्) जानना चाहिए ॥ १३ ॥

शंका—आत्मा को तीन उपाधियों से भिन्न वर्णन किया है, सो ठीक नहीं; क्योंकि 'स वा एष पुरुषोऽन्नरसमयः' अर्थात् वह एक पुरुष अन्नरसमय है--इस श्रुति के प्रमाण से कोश ही आत्मा प्रतीत होता है। तो इस शंकाका समाधान करते हैं—

पञ्चकोशादियोगेन तत्तन्मय इव स्थितः ।
शुद्धात्मा नीलवस्त्रादियोगेन स्फटिको यथा ॥१४॥

सान्वय भाषार्थः—(यथा) जैसे (स्फटिकः) स्फटिक (नीलवस्त्रादियोगेन) नीले पीले आदि वस्त्रों के संयोग से (तत्तन्मयः) नीला पीला आदि रंगों से युक्त (इव 'भाति') प्रतीत होता है, वास्तव में स्फटिक स्वच्छ सफेद है; ('तथा') इसी तरह (शुद्धात्मा) आत्मा भी निर्मल और शुद्ध है, वह

(पञ्चकोशादियोगेन) [1]पञ्चकोशादि के योग से आत्मा भी ('तत्तन्मय इव') कोशरूप प्रतीत (स्थितः) होता है ॥१४॥

वपुस्तुषादिभिः कोशैर्युक्तं युक्त्याऽवघाततः।
आत्मानमन्तरं शुद्धं विविच्यात्तण्डुलं यथा ॥१५॥

१ पञ्च कोष ये हैं, यथा—(१) अन्नमय (२) प्राणमय (३) मनोमय (४) विज्ञानमय (५) आनन्दमय।

(१) अन्नमयकोष—पिता माता के द्वारा भोजन किये हुए अन्न के विकार से समुत्पन्न और अन्न ही के द्वारा परिवर्द्धित जो स्थूल देह है उसी का नाम अन्नमय कोष है। इसी अन्नमय कोष के अभ्यास से मैं स्थूल हूँ, मैं कृश हूँ, आदि शरीर धर्म जीवात्मा में समारोपित किए जाते हैं।

(२) प्राणमयकोष-देहेन्द्रिय द्वारा 'चेष्टा साधन प्राण अपानादि पञ्च वायु तथा पञ्च कर्म में पञ्चेन्द्रिय के साथ हस्त पादादि प्राणमय-कोष कहलाता है। प्राणमय कोष धर्म के अभ्यास से 'मैं यह काम करता हूँ,' 'मैं इस काम को नहीं करता हूँ,' 'मैं भूखा हूँ,' 'मैं प्यासा हूँ,' इत्यादि प्राणधर्म जीवात्मा में समारोपित होते है।

(३) मनोमयकोष--आँख, कान आदि पञ्च ज्ञानेन्द्रिय सहित मनको मनोमय कोष कहते हैं। इसके द्वारा सन्देह शून्य आत्मा की संशयपूर्णता अध्यास होती है।

(४) विज्ञानमय कोष-पाँच ज्ञानेन्द्रियों के साथ बुद्धि को विज्ञानमय कोष कहते हैं, 'मैं कर्ता हूँ,' 'मैं भोक्ता हूँ,' 'मैं ज्ञानी हूँ' 'मैं मूर्ख हूँ,' इत्यादि विज्ञानमय प्रतीय होता है।

(५) आनन्दमय कोष--कारण देह अथवा अविद्या का दूसरा नाम आनन्दमय कोष है। इस आनन्दमय कोष के कारण ही आमोद शून्य आत्मा के अनेक प्रकार के आमोद आरोपित होते हैं, जैसे 'मैं सुखी हूँ'।

सान्वय भाषार्थः-(यथा) जिस तरह कूटने से (तुषादिभिः 'युक्तं' तण्डुलं) तण्डुलादि अन्न के (वपुः अवघाततः) छिलके दूर होकर भीतर से शुद्ध और निर्मल दाने निकाल कर ग्रहण किये जाते हैं (तथा) उसी तरह (युक्त्या) विचारयुक्ति के अवघात द्वारा (कोषैः युक्तं) कोष रूप छिलकों से ढँकी हुई (आत्मानं) आत्मा को अलग करके (अन्तरं शुद्धं) विमल आत्मतत्त्व की (विविच्यात्) विवेचना की जाती है।

यह देह आत्मा नहीं है, यह जड़ पदार्थ है अतएव जन्म से पहिले और मरने के पीछे इसका अभाव होता है। ये प्राण भी आत्मा नहीं हैं, ये वायु हैं इसलिये जड़ पदार्थ हैं अतएव अनित्य है। यह मन भी आत्मा नहीं है, काम क्रोधादि वृत्तियों द्वारा इसका विकार घटित है। बुद्धि भी आत्मा नहीं है। क्योंकि सुषुप्ति काल में अपनी कारणगत अविद्या में यह लीनता को प्राप्त हुए देखा जाता है, एवं आनन्दमय कोषरूप यह कारण शरीर भी आत्मा नहीं है क्योंकि यह समाधिप्राप्त हो जाता है इस लिए क्षणस्थायी इस पञ्चकोष से पृथक् और तद्विपरीत लक्षणविशिष्ट पूर्णचिदानन्द ही आत्मपद वाच्य है।

शङ्का–आत्मा तो ब्रह्मरूप और सर्वत्र व्यापक लिखा है फिर सर्वत्र प्रतीत क्यों नहीं होता ? इसका समाधान यह है—

सदा सर्वगतोऽप्यात्मा न सर्वत्रावभासते।
बुद्धावेवावभासते स्वच्छेषु प्रतिबिम्बवत् ॥१६॥

सान्वय भाषार्थः—(आत्मा) आत्मा (सदा) सर्वदा (सर्वगतोऽपि) सर्व जगह व्याप्त तो है किन्तु (सर्वत्र) सब जगह (नावभासते) प्रतीत नहीं होता। उसका भास केवल निर्मल बुद्धि में ही पड़ता है। (स्वच्छेषु प्रतिबिम्बवत्) जैसे घटपटादिको छोड़ दुःख का प्रतिबिम्ब केवल दर्पण में ही पड़ता है, और देखो सूर्य का प्रकाश सर्वत्र है किन्तु उसका प्रतिबिम्ब केवल निर्मल जल में हो पड़ता है जलरहित घटपटादि में नहीं पड़ता है। इससे यह बात सिद्ध है कि देह आदि रजोगुण के मलीन कार्य हैं उनमें आत्मा प्रतीत होता नहीं केवल (बुद्धौ एव) बुद्धि में (अवभासते) दिखलाई देता है ॥१६॥

दृष्टान्त—अब इस बात को दृष्टान्त द्वारा वर्णन करते हैं कि देह इन्द्रियादि में आत्मा वर्तमान होनेपर भी उनसे भिन्न है—

देहेन्द्रियमनोबुद्धिप्रकृतिभ्यो विलक्षणम् ।
तद्वृत्तिसाक्षिणं विद्यादात्मानं राजवत् सदा ॥१७॥

सान्वय भाषार्थः—(राजवत्) जैसे राजा सभामें स्थित होकर सम्पूर्ण मनुष्योंका साक्षी और प्रेरक है और उनसे भिन्न है उसी प्रकार (आत्मानं) आत्मा को भी (सदा) सर्वदा (देहेन्द्रियमनोबुद्धिप्रकृतिभ्यः) देह इन्द्रिय मन बुद्धि और प्रकृति नामक माया इनसे (विलक्षणम्) भिन्न और (यद् वृत्तिसाक्षिणं) इन्द्रियादि के जो दर्शन स्पर्शनादि व्यापार हैं उनका साक्षी (विद्यात्) जानना चाहिए ॥१७॥

शङ्का —आत्मा सबका साक्षीभूत नहीं हो सकता क्योंकि वह तो देहेन्द्रियादिक समूह से व्यवहार करता हुआ प्रतीत होता है और साक्षी तो साक्ष्यपदार्थों से भिन्न होता है तो इस शङ्काका समाधान करते हैं—

व्यापृतेष्विन्द्रियेष्वात्मा व्यापारीवाऽविवेकिनाम्।
दृश्यतेऽभ्रेषु धावत्सु धावन्निव यथा शशी ॥१८॥

सान्वय भाषार्थः—(यथा) जैसे (अभ्रेषु) आकाश में जब पवन के वेग से बादल (धावत्सु सत्सु) चलते हैं तब अज्ञानी पुरुषों को (शशी) चन्द्रमा (धावन् इव) दौड़ता हुआ (दृश्यते) दिखाई पड़ता है और यथार्थ में चन्द्रमा दौड़ता नहीं। ('तथैव') उसी प्रकार जब (इन्द्रियेषु व्यापृतेषु) इन्द्रियां व्यवहार करती हैं तब (अविवेकिनाम्) अज्ञानी पुरुषों का (आत्मा) आत्मा (व्यापारी इव) व्यवहार करता है ऐसा (दृश्यते) दीख पड़ता है, परन्तु वास्तवमें आत्मामें कोई भी व्यापार नहीं, केवल अविवेकियों को भ्रम है ॥१८॥

आत्मचैतन्यमाश्रित्य देहेन्द्रियमनोधियः।
स्वकीयार्थेषु वर्त्तन्ते सूर्यालोकं यथा जनाः ॥१९॥

सान्वय भाषार्थः—(यथा) जैसे (जनाः) सब लोग जब (सूर्यालोकं) सूर्य का आलोक हो जाता है तब उसके (आश्रित्य) आश्रय से (स्वकीयार्थेषु) अपने २ कार्यों में (वर्त्तन्ते) लगते हैं। ('तथैव') वैसे ही (देहेन्द्रियमनो-

धियः) देह, इन्द्रिय, मन, बुद्धि भी आत्मा की चेतनताका ('आश्रित्य') आश्रय लेकर ('स्वकीयार्थेषु') अपने २ व्यापार में ('वर्त्तन्ते') लगते हैं। अत एव जब देह इन्द्रिय आदि में स्वतः चेतनता नहीं है और उनमें आत्मचैतन्य प्रतीत मात्र होता है तो वे आत्म स्वरूप नहीं हो सकते ॥१९॥

शङ्का—अब जो आप यह कहें कि उपरोक्त वाक्य से आत्मा चेतनरूप तो निश्चित हो गया परन्तु उसमें जन्म, मरण, यौवन, वृद्ध, काण, बधिर आदि व्यवहार प्रतीत होते हैं इस कारण आत्मा जन्म मृत्युवाला प्रतीत होता है तो इसका उत्तर यह है कि--

देहेन्द्रियगुणान् कर्माण्यमले सच्चिदात्मनि ।
अध्यस्यन्त्यविवेकेन गगने नीलिमादिवत् ॥२०॥

सान्वयभाषार्थः--अज्ञानी पुरुष (देहेन्द्रियगुणान्) इन्द्रियों के जो धर्म अर्थात् अन्धापन, बहिरापन और (कर्माणि च) गमन आदि कर्म हैं उनको (अमले) निर्मल [अर्थात् अज्ञानता के कार्य देह, इन्द्रिय नाम, रूप, संसार आदिरूपी मल से रहित] ऐसे (सच्चिदात्मनि) सच्चिदानन्दस्वरूप आत्मा में इस प्रकार (अविवेकेन) अज्ञान से (अध्यसन्ति) आरोपण कर लेते हैं जैसे (गगने) निर्मल आकाश में (नीलिमादिवत्) नील पीत आदि रंगोंको ('अध्यस्यन्ति') मानते हैं सो यह केवल अज्ञानमात्र है।

आत्मा में जन्म मरण आदि कोई धर्म नहीं है । ये धर्म तो देह आदि में होते हैं ॥२०॥

पुनः यह शंका हो सकती है कि यद्यपि आत्मा में देह इन्द्रिय के जन्ममरणादि कुछ नहीं हैं तथापि "मैं दुःखी हूँ, मैं सुखी हूँ, मैं भोक्ता हूँ" इत्यादि प्रतीत होते हैं इस लिए आत्माका कर्त्ता भोक्ता मानना चाहिए जैसा कि न्यायमतावलम्बियों ने माना है क्योंकि कर्तृत्व भोक्तृत्व आदि अन्तःकरण और आत्माकी एकरूपता के भ्रम से आत्मा में माने गये हैं तो इसका समाधान करते हैं--

अज्ञानान्मानसोपाधेः कर्तृत्वादीनि चात्मनि ।
कल्प्यन्तेऽम्बुगते चन्द्रे चलनादिर्यथाम्भसः ॥२१॥

सान्वय भाषार्थः—(यथा) जैसे (अम्भसः) जल के जो (चलनादिः) चलने आदि धर्म हैं उनको जैसे (अम्बुगते) जल में पड़ा हुआ जो (चन्द्रे) चन्द्रमा का प्रतिबिम्ब है उसमें ('कल्प्यन्ते') कल्पना करते हैं और यथार्थ में चन्द्रमा में नहीं हैं ('तथैव') उसी प्रकार (अज्ञानात्) अज्ञान से (मानसोपाधेः) मनकी उपाधि अर्थात् अन्तःकरण के (कर्तृत्वादीनि) "मैं कर्त्ता हूँ, मैं भोक्ता हूँ" आदि धर्म (आत्मनि) आत्मा में (कल्प्यन्ते) कल्पना किए जाते हैं । परन्तु वास्तव में आत्मा में कोई कर्तृत्व आदि धर्म नहीं हैं ॥२१॥

जैसे आत्मा में कर्तृत्व भोक्तृत्व कल्पना कर लिए जाते हैं वैसेही अन्तःकरण के जो रागद्वेषादिधर्म हैं उनकी कल्पना

भी आत्मा में केवल अज्ञान से है यथार्थ में नहीं है, इसको अन्वयव्यतिरेक से वर्णन करते हैं--

रागेच्छासुखदुःखादि बुद्धौ सत्यां प्रवर्तते ।
सुषुप्तौ नास्ति तन्नाशे तस्माद् बुद्धेस्तु नात्मनः ॥ २२॥

सान्वय भाषार्थः--(रागेच्छासुखदुःखादि) राग इच्छा सुख दुःख आदि ये सम्पूर्ण धर्म बुद्धि के हैं सो जब (बुद्धौ) जाग्रत् और (सुषुप्तौ) स्वप्नावस्था में बुद्धि रहती है तब ये (प्रवर्तते) उत्पन्न होते हैं और (सुषुप्तौ) स्वप्नावस्था में बुद्धि रहती है तब ये (प्रवर्तते) उत्पन्न होते हैं और (सुषुप्तौ) सुषुप्ति अवस्था में (तन्नाशे) बुद्धि का नाश होने पर (न अस्ति) कोई धर्म प्रवृत्त नहीं होता है (तस्मात्) इसलिये सब धर्म(बुद्धेः) बुद्धि के ही (अस्ति) हैं, (आत्मनः न) आत्मा के नहीं हैं।

कारण के होनेपर कार्य के होने को अन्वय कहते हैं, और कारण के न होने पर कार्य का भी न होना इसको व्यतिरेकि कहते है। यहाँ जाग्रत् और स्वप्नावस्था में जब कारणरूप बुद्धि रहती है तब कार्यरूप रागद्वेषादिभी होते हैं और सुषुप्ति अवस्था में कारणरूप बुद्धि नहीं रहती क्योंकि अज्ञान में लय हो जाती है, इसलिए कार्यरूप रागद्वेषादि नहीं होते हैं यही व्यतिरेकता। अत एव आत्मा निर्विकार सच्चिदानन्दस्वरूप है ॥२२॥

अब आत्मा से स्वभाव का वर्णन करते हैं—

प्रकाशोऽर्कस्य तोयस्य शैत्यमग्नेर्यथोष्णता ।
स्वभावः सच्चिदानन्दनित्यनिर्मलताऽऽत्मनः ॥२३॥

सान्वयभाषार्थः—(यथा) जैसे (अर्कस्य) सूर्य का (स्वभावः) स्वभाव (प्रकाशः) प्रकाश है, (तोयस्य) जल का स्वभाव (शैत्यं) शीत है (अग्नेः) अग्नि का स्वभाव (उष्णता) उष्णता है (तथा एव) वैसे ही (आत्मनः) आत्मा का (स्वभावः) स्वभाव (सच्चिदानन्दनित्यनिर्मलता) सच्चिदानन्द और नित्य निर्मल हैं ॥२३॥

शंका—कदाचित् यह शंका हो कि आत्मा तो 'मैं सुखी हूँ' 'मैं दुःखी हूँ' इत्यादि अनुभव से सुख दुःख आदि का आश्रय प्रतीत होता है उसको आप सच्चिदानन्द निर्विकार कैसे कहते हैं तो इसका समाधान करते हैं—

आत्मनः सच्चिदंशश्च बुद्धेर्वृत्तिरिति द्वयम्।
संयोज्य चाविवेकेन जानामीति प्रवर्तते ॥२४॥

सान्वय भाषार्थः—प्रत्यगात्मा (आत्मनः) आत्माका वह (सच्चिदंशः) सत् चित् अंश है जो (बुद्धेः) बुद्धि की (वृत्तिः) वृत्ति में आत्मा की छाया पड़ती है और अज्ञानरूप आनन्द का अंश जो बुद्धि की वृत्ति है (इति द्वयम्) इन दोनों को (संयोज्य) एकत्र करके जीव (जानामीति) 'मैं दुःखी हूँ' 'मैं सुखी हूँ' आदि (अविवेकेन) अज्ञान से (प्रवर्तते) मानता है। परन्तु यथार्थ में आत्मा असंग है और उसमें किसी का सम्बन्ध नहीं है। अतएव उसमें श्रवण, सुख, दुःख आदि नहीं हो सकते, क्योंकि बुद्धि का परिणाम ज्ञान और सुखाकर वृत्ति है। और यही कारण है कि ज्ञान आदि का आश्रय

बुद्धि है और आत्मा नहीं है । और जो आत्मामें ज्ञान सुख आदि प्रतीत होते हैं सो बुद्धि और आत्मा एकरूपता से दीखते हैं, वह केवल भ्रम है, क्योंकि आत्मा तो निर्विकार सच्चिदानन्दस्वरूप है ॥२४॥

अब आत्मा के निर्विकारत्व और सच्चिदानन्दरूपत्व का वर्णन करते हैं—

आत्मनो विक्रिया नास्ति बुद्धेर्बोधो न जात्विति ।
जीवः सर्वमलं ज्ञात्वा कर्त्ता द्रष्टेति मुह्यति ॥२५॥

सान्वय भाषार्थः—(आत्मनः) आत्मा में किसी प्रकार का (विक्रिया) विकार (न अस्ति) नहीं है और (बुद्धेः) बुद्धि में (जातु) कदापि (बोधः न) ज्ञान नहीं है । यह (जीवः) जीव अपने में (सर्वमलम्) सबको जानकर (कर्त्ता) 'मैं कर्त्ता हूँ' (द्रष्टा) 'मैं द्रष्टा हूँ' (इति) इस प्रकार (मुह्यति) केवल मोह को प्राप्त होता है ।

ऐसा ही श्रुति में भी लिखा है कि "निर्गुणं निष्क्रियं शान्तं निरवद्यं निरञ्जनम्" अर्थात् आत्मा निर्गुण, क्रिया रहित, शान्त स्वरूप, निष्पाप और निर्मल है । और गीता में भी यह लिखा है कि "अव्यक्तोऽयमचिन्त्योऽयमविकार्योऽयमुच्यते ।।" अर्थात् आत्मा अव्यक्त, अचिन्त्य और विकार रहित है । और बुद्धि में ज्ञान यों नहीं है कि बुद्धि माया का कार्य होने से जड़ है तो भी अन्तःकरण में प्रतिबिम्बित जो चेतन की चेतना है उससे देह इन्द्रियादि सम्पूर्ण जड़ पदार्थ चेतना रूप से प्रतीत होते हैं

और यही कारण है कि जब बुद्धि और बुद्धि के कर्ता भोक्ता आदि धर्म आत्माओं में भ्रम से दीखते हैं ॥२५॥

अब आत्मा में मिथ्या आरोपित अज्ञान का फल और तत्त्व ज्ञान का फल कहते हैं—

रज्जुसर्पवदात्मानं जीवं ज्ञात्वा भयं वहेत्।
नाऽहं जीवः परात्मेति ज्ञातं चेन्निर्भयो भवेत् ॥२६॥

सान्वय भाषार्थः—('यथा') जैसे ('पुरुषः') पुरुष अंधेरे में पड़ी हुई (रज्जुसर्पवत्) रस्सी को भ्रम से सर्प जानकर ('भयं वहेत्') डरने और काँपने लगता है ('तथा एव') वैसे ही (पुरुषः) मनुष्य (आत्मानं) आत्मा को अज्ञान से (जीवं) जीव (ज्ञात्वा) मान कर संसार के (भय वहेत्) अनेक दुःखों को सहता है और जब (अहं जीवः न) मैं जीव नहीं हूँ ('किन्तु') किन्तु (परात्मा) परमात्मा हूँ (इति ज्ञानं चेत्) यह ज्ञान हो जाय तब (निर्भयः भवेत्) निर्भय हो जाता है।

ऐसा ही श्रुति में भी कहा है कि "द्वितीयाद्वै भयं भवति" अर्थात् पुरुष को द्वैत ज्ञान से निश्चय भय होता है और 'उभयमन्तरं कुरुते अथ तस्य भयं भवति' अर्थात् अपने और आत्मा में जो भेद मानता है उसको जन्म मरण आदिके भय होते हैं। और भी कहा है कि "न चेदवेदीन्महती विनष्टिः" अर्थात् जिसको आत्मस्वरूपका ज्ञान नहीं हुआ उसकी बहुत हानि हुई। फिर स्मृति का भी वाक्य है कि 'ईषदप्यन्तरं कृत्वा

रौरवं नरकं व्रजेत्' अर्थात् जीवात्मा परमात्मा में थोड़ासा भी अन्तर करने से मनुष्य रौरव नरक में जाता है। जब मनुष्य को "तत्त्वमसि" आदि वाक्यों से ऐसा हो जाता है कि मैं जीव नहीं हूँ किन्तु अखण्ड सच्चिदानन्द जगत्साक्षी असंग परमात्मा परब्रह्मरूप हूँ तब उसका जन्ममरणादि भय दूर है और ऐसा ही श्रुति में भी लिखा है कि 'ब्रह्मविद्ब्रह्मैव भवति' अर्थात् जो ब्रह्म को जानता है वह ब्रह्म ही हो जाता है ॥२६॥

शंका--जो कदाचित् यह कहो कि आत्मा तो मन और बुद्धि के निकट ही है फिर बुद्धि आदि को आत्मा प्रत्यक्ष क्यों नहीं होता है तब कहते हैं कि--

आत्माऽवभासयत्येकोबुद्ध्यादीनीन्द्रियाणि च ।
दीपो घटादिवत्स्वात्मा जडैस्तैर्नावभास्यते ॥२७॥

सान्वय भाषार्थः--(इन्द्रियाणि) सम्पूर्ण इन्द्रियों को और (बुद्ध्यादीनि च) बुद्धि आदि को केवल (एकः) एक (आत्मा) आत्मा ही (दीपः घटादिवत् अवभासयति) जैसे दीपक घटादि वस्तुओं को प्रकाशित करता है उसी प्रकार प्रकाशित करता है। ('इन्द्रियादिभिः बुद्ध्यादिभिः च') मन बुद्धि आदि इन्द्रियाँ जो जड़ पदार्थ हैं (तैः) उनसे (स्वात्मा) आत्मा उसी तरह (न अवभास्यते) प्रकाशित नहीं होता है जैसे घटादि मलिन पदार्थ दीपक को प्रकाशित नहीं कर सकते। अतएव यह बात सिद्ध हुई कि आत्मा तो मन बुद्धि आदि का

साक्षी है और उसको जानता है और मन बुद्धि आदि जड़ पदार्थ आत्मा के स्वरूप को नहीं जानते ॥२७॥

शंका—जो कदाचित् यह कहो कि जब आत्मा बुद्धि द्वारा प्रकाशित नहीं होता तब आत्मस्वरूप का किस प्रकार ज्ञान हो सकता है ? इसका समाधान करते हैं—

स्वबोधे नाऽन्यबोधेच्छा बोधरूपतयाऽऽत्मनः।
न दीपस्याऽन्यदीपेच्छा यथा स्वात्मा प्रकाशते ॥२८॥

सान्वय भाषार्थः—(यथा) जिस प्रकार (दीपस्य) दीपक को अपना प्रकाश करने के लिये (अन्यदीपेच्छा) दूसरे दीपक की इच्छा [आवश्यकता] (न भवति) नहीं होती है ('तथा') उसी प्रकार (आत्मनः) आत्मा को (बोधरूपतया) स्वयं बोधरूप होने के कारण (स्वबोधे) बोधरूप आत्मा के बोध में (अन्यबोधेच्छा) अन्य बोध की अपेक्षा (न) नहीं है ('यतः') क्योंकि (स्वात्मा) आत्मा तो ('स्वयं') स्वयं (प्रकाशते) प्रकाशित होता है ॥२८॥

शङ्का—जो कदाचित् यह शंका करो कि आत्मा तो आप ही साक्षात्कार है अतएव पुरुष बिना यत्न किए ही मुक्त हो जायंगे और श्रवण मनन आदि जो मुक्ति के उपाय हैं वे सर्व निष्फल हो जायंगे–तो इस शंका का समाधान करते हैं—

निषिध्य निखिलोपाधीन्नेति नेतीति वाक्यतः।
विद्यादैक्यं महावाक्यैर्जीवात्मपरमात्मनोः ॥२९॥

सान्वय भाषार्थः—(नेति नेति इति) नेति नेति इस (वाक्यतः) वाक्य से (निखिलोपाधीन्) सब उपाधियों का (निषिध्य) निषेध करके (महावाक्यैः) "तत्त्वमसि" आदि महावाक्यों से (जीवात्मपरमात्मनोः) जीव और परमात्मा की (ऐक्यं) एकता को (विद्यात्) जाने ।

अर्थात् "स एष आदेशो नेति नेतीत्य तन्निरसनम्" इस व्यासजीके कथित सूत्र के अनुसार यह उपदेश है कि "नेति नेति" अर्थात् यह आत्मा नहीं है नहीं है इस प्रकार श्रुतियों के वचनों से आत्मा से जो भिन्न है उसका त्याग करें अर्थात् जड और अनित्य समझे और इस प्रकार जब स्थूल सूक्ष्म और कार्य कारणरूप नामरूपात्मक जगत् को अनित्य जान ले, तब "तत्त्व-मसि, अयमात्मा ब्रह्म, प्रज्ञानं ब्रह्म, अहं ब्रह्मास्मि" अर्थात् वह ब्रह्म तू है, यह जीवात्मा ब्रह्म है, प्रज्ञान ब्रह्म है, मैं ब्रह्म हूँ इन महावाक्यों द्वारा जीवात्मा और परमात्मा इन दोनों की एकता को जाने और उस जानने ही को मुक्ति का कारण कहते हैं । और महावाक्यों से एकता का ज्ञान किस प्रकार होता है उन तीन संबन्धों को कहते हैं कि सम्बन्ध तीन प्रकार के हैं सामा-नाधिकरण्य, विशेषण विशेष्यभाव और लक्ष्यलक्षणभाव । इन तीनों में सामानाधिकरण्य सम्बन्ध दो प्रकार का है, एक मुख्य सामानाधिकरण्य और दूसरा बाधसामानाधिकरण्य । मुख्य सामानाधिकरण्य सम्बन्ध उसे कहते हैं जहाँ एक वस्तु का एक वस्तु के साथ सर्वदा अभेद हो, जैसे सुवर्ण का और सुवर्ण के

बने हुए आभूषणों का। और बाधसामानाधिकरण्य सम्बन्ध वह है जिसमें एक वस्तु का एक वस्तु के साथ बाध करके सम्बन्ध हो जैसे सुवर्ण के डेलेका जब कोई कुंडल आदि आभूषण बन गया तब भी कुंडलादि भूषण के नाम और रूप को बाध करके पूर्वोक्त सामान्य सुवर्ण के साथ उसका अभेद है। अथवा वहाँ होता है जहाँ दो पदों का परस्पर भेद हो किन्तु अर्थ एक ही हो जैसे घट और कुंभ शब्द तो अलग २ हैं परन्तु अर्थ दोनों का एकही है। अथवा जैसे 'सोऽयं देवदत्तः' अर्थात् यह वही देवदत्त है (जिसको वाराणसी में देखा था) इस वाक्य में 'सः अयं देवदत्तः' ये तीन पद हैं। उनमें से "सः" पद परोक्ष देश और कालका बोध कराता है "अयं" पद परोक्ष देश काल वृत्ति का बोध कराता है। इस तरह इन दोनों पदों का भिन्न २ अर्थ है, किन्तु दोनों पदों का सम्बन्ध एक देवदत्त में ही है, इसलिए बाधसामानाधिकरण्यसम्बन्ध हुआ।

ऐसे ही "तत्त्वमसि" आदि महावाक्यों में "तत्" पद का वाच्य अर्थ, परोक्ष आदि विशेषणविशिष्ट चेतन होता है और "त्वं" पदका वाच्य अर्थ अपरोक्ष आदि विशेषण सहित चेतन है और विशेषणों को त्याग कर इन दोनों पदों का असि (है) इस पद में सामानाधिकरण्य है। और दूसरा विशेषणविशेष्य-भावसम्बन्ध यह है कि "सोऽयं देवदत्तः" अर्थात् यह वही देवदत्त है यहाँ "सः" और "अयं" ये दो पद देवदत्तपदके

विशेषण हैं और देवदत्त विशेष्य है और ये दोनों पद अपने २ देश और कालरूप अर्थ को त्याग कर देवदत्त के स्वरूप को बतलाते हैं। और इसी प्रकार "तत्त्वमसि" आदि महावाक्यों में भी "तत्" पद का अर्थ तो अपरोक्ष आदि विशेषण सहित है और "त्वं" पदका अर्थ अपरोक्ष आदि विशेषणसहित चेतन है और इन दोनों विशेषणों को त्यागकर दोनों पदों का असि (है) इस पद में सामानाधिकरण्य होता है इसलिये यहाँ विशेषणविशेष्यभाव सम्बन्ध है।

और तीसरा लक्ष्यलक्षणभावसम्बन्ध है, जैसे "सोऽयं देवदत्तः"। यहाँ "सः अयम्" इन दोनों पदों से देशकाल आदि विशेषणों को छोड़कर देवदत्त मात्रही लक्षित होता है। और ऐसे ही 'तत्त्वमसि' आदि महावाक्यों में भी "तत्" पदका अर्थ अद्वितीय अपरोक्षव्यापक चेतन है और "त्वं" पदका अर्थ अद्वितीय अपरोक्ष परिच्छिन्न चेतन है। इन विरुद्ध धर्मों को छोड़कर एक चेतन जो विरुद्ध धर्मरहित लक्ष्य अर्थ है सो लक्षित होता है। और इन पूर्वोक्त तीनों सम्बन्धों के द्वारा लक्षण से जीव और ब्रह्म की एकता सिद्ध होती है। इसलिये अब लक्षणा का वर्णन करते हैं कि लक्षणा तीन प्रकार की है, जहल्लक्षणा, अजहल्लक्षणा और जहदजहल्लक्षणा। जहल्लक्षणा उसे कहते हैं जैसे "गङ्गायां घोषः" गङ्गा में अहीर रहता है। यहाँ जलप्रवाह रूप गङ्गा का जो वाच्य अर्थात् मुख्य अर्थ है उसमें अहीर का रहना असंभव है, क्योंकि गङ्गा के बीच में पानी

पर अहीर रह नहीं सकता। इस लिए यहाँ प्रवाहरूप जो वाच्य अर्थ है उसको छोड़कर गङ्गापद के तट में लक्षणा करलो अर्थात् गंगाजी के तट पर अहीर रहता है। ऐसा मानो तो यहाँ गंगापद का सम्पूर्ण वाच्य अर्थ छूट गया। इसलिए इसको जहल्लक्षणा कहते हैं।

और "तत्त्वमसि" आदि महावाक्यों में 'तत्' 'त्वम्' दोनों का चेतनरूप एक अर्थ है। सो अर्थ का त्याग न होने से जहल्लक्षणा हो नहीं सकती। अब अजहल्लक्षणा का वर्णन करते हैं, जैसे "अरुणो धावति" अर्थात् अरुण (लालरंग) दौड़ता है। यहाँ लाल रंग में दौड़ना संभव है इसलिये अरुण (लाल) पद की लक्षणा लाल घोड़े में है। यहाँ अरुण पद को, अपने लाल अर्थ को न त्याग कर घोड़ेरूप दूसरे पदार्थ में, लक्षणा हुई। इसलिये यह अजहल्लक्षणा हुई। यह लक्षणा भी "तत्त्वमसि" आदि महावाक्यों में नहीं हो सकती क्योंकि उनमें सम्पूर्ण वाच्य अर्थ का ग्रहण नहीं है।

अब जहदजहल्लक्षणा का वर्णन करते हैं। जहाँ किंचित् अर्थ का त्याग और किंचित् अर्थ का ग्रहण हो वह जहद-जहल्लक्षणा होती है और यही लक्षणा "तत्त्वमसि" आदि महावाक्यों में इस प्रकार घटती है जैसे "सोऽयं देवदत्तः" (यह वही देवदत्त है) इस वाक्य में देश, काल और पुष्ट, कृश आदि विशेषणों का त्याग है और पिण्डमात्र देवदत्त का ग्रहण होता है। इसलिये जहदजहल्लक्षणा होती है और ऐसे ही "तत्त्वमसि"

आदि महावाक्यों में भी समष्टि (सब मिला हुआ) व्यष्टि (जुदा २) स्थूल सूक्ष्म आदि विरुद्ध अंशको त्याग देने से व्यापक अखंड चैतन्यमात्र का बोध होता है और इसी लक्षणा को भावत्यागलक्षणा भी कहते हैं ॥२९॥

शङ्का—कदाचित् यह कहो कि चेतन तो असंग है, इस लिए उपाधियों को छोड़ देने में भी कोई हानि नहीं है। तो बतलाते हैं कि—

आविद्यकं शरीरादि दृश्यं बुद्बुदवत्क्षरम् ।
एतद्विलक्षणं विन्द्यादहं ब्रह्मेति निर्म्मलम् ॥३०॥

सान्वय भाषार्थः—(आविद्यकम्) अज्ञान से कल्पित जो (शरीरादि) शरीर आदि (दृश्यम्) जड़ पदार्थ दीखते हैं उनको (बुद्बुदवत्) पानी के बुलबुले के समान (क्षरम्) नाशवान् ('ज्ञेयम्') समझना चाहिये (एतद्विलक्षणम्) और इनसे विलक्षण अर्थात् सच्चिदानन्दस्वरूप और (निर्मलं) उपाधि रूप मलों से रहित (अहं ब्रह्म इति) जो ब्रह्म है वही मैं हूँ ऐसा (विन्द्यात्) जाने ॥३०॥

अब महावाक्यों से उत्पन्न हुई जीव और ब्रह्म की एकता के मानने का प्रकार लिखते हैं—

देहान्यत्वान्न मे जन्मजराकार्श्यलयादयः ।
शब्दादिविषयैः सङ्गो निरिन्द्रियतया न च ॥३१॥

सान्वय भाषार्थः—(देहान्यत्वात्) मैं देह अर्थात् स्थूल और सूक्ष्मरूप से अलग हूँ इसलिए (मे जन्मजराकार्श्यलया-

दयः न) मुझको जन्म, वृद्धावस्था, दुर्बलता और मरण आदि नहीं होते (और आदिपद जो दिया है उससे क्षुधा तृषा, देह के धर्म भी मुझे नहीं सताते हैं) और (निरिन्द्रियतया च) मैं इन्द्रियों से रहित हूँ इस कारण (शब्दादिविषयैः संगः न) शब्द आदि विषयों में भी मेरा कुछ सम्बन्ध नहीं है। सारांश यह है कि मैं संगरहित निर्मल स्वभाव ब्रह्म हूँ इस प्रकार मनन करना चाहिए ॥३१॥

अब आत्मा के प्रति मन के धर्मों का निषेध करते हैं—

अमनस्त्वान्न मे दुःखरागद्वेषभयादयः ।
अप्राणो ह्यमनाः शुभ्र इत्यादि श्रुतिशासनात् ॥३२॥

सान्वय भाषार्थः—(अमनस्त्वात्) मन से भिन्न होने के कारण (मे) मुझ में (दुःखरागद्वेषभयादयः) दुःख, राग, द्वेष, भयादि नहीं है और मैं (अप्राणः) प्राणों से भिन्न हूं इसलिए क्षुधा तृषा आदि जो प्राणों के धर्म हैं वे भी मुझ में नहीं हैं और (श्रुतिशासनात्) श्रुति के कथनानुसार परमात्मा प्राण और मन से भिन्न है। और (शुभ्रः) अविद्या के मल से रहित है। तात्पर्य यह हुआ कि परमात्मा केवल अखण्ड सच्चिदानन्द रूप, विकाररहित शुद्ध चैतन्य रूप है ॥३२॥

अब इस बात को पुष्ट करते हैं कि प्राण आदि परमात्मा से उत्पन्न होने के कारण अनित्य हैं—

एतस्माज्जायते प्राणो मनः सर्वेन्द्रियाणि च ।
खं वायुर्ज्योतिरापश्च पृथ्वी विश्वस्य धारिणी ॥३३॥

सान्वय भाषार्थः—(प्राणः) प्राण (मनः) मन (सर्वेन्द्रियाणि) सब इन्द्रियां (खं) आकाशं (वायुः) वायु (ज्योतिः) अग्नि (आपः) जल और (विश्वस्य धारिणी) स्थावर जंगमरूप संसार को धारण करनेवाली (पृथ्वी च) पृथिवी-ये सब प्रपंच अनादि अविद्या के द्वारा (एतस्मात्) उसी ('ब्रह्मणः') ब्रह्म से (जायते) उत्पन्न होते हैं ॥३३॥

निर्गुणो निष्क्रिया नित्या निर्विकल्पो निरंजनः ।
निर्विकारो निराकारो नित्यमुक्तोऽस्मि निर्मलः ॥३४॥

सान्वय भाषार्थः—(अहम्) मैं (निर्गुणः) निर्गुण हूँ अर्थात् माया और उसका कार्य जो बुद्धि सत्त्वगुण राग इच्छा आदि इनसे भिन्न हूँ और (निष्क्रियः) देह और क्रिया से हीन हूँ और (नित्यः) नित्य हूं अर्थात् सर्वदा चैतन्यस्वरूप हूं और (निर्विकल्पः) निर्विकल्प हूं अर्थात् संकल्प विकल्प जो मन के धर्म हैं उनसे रहित हूं (निरञ्जनः) निरंजन हूँ अर्थात् मायाका कार्य जो संसाररूपी मल है उससे रहित हूँ (निर्विकारः) निर्विकार हूँ अर्थात् माया द्वारा मिथ्या कल्पित किया गया जो यह संसार है उसका अधिष्ठानरूप हूं (निराकारः) निराकार हूं अर्थात् आकाश के समान स्वतन्त्र और अवयव रहित हू और (नित्यमुक्तः) नित्यमुक्त हूँ अर्थात् अज्ञानसे कल्पना किए गये जो मोह आदि बन्धन हैं उनसे रहित हूँ और (निर्मलः) निर्मल (अस्मि) हूँ अर्थात् मायारूपी मल भी मुझमें नहीं है। इस प्रकार अपने रूपको जानना चाहिए ॥३४॥

शंका—जो कदाचित् यह शंका करो कि आत्माका रूप तो जैसा कह आयेहो वैसाही है किन्तु देहवान् प्रतीत होता है इसलिये परिच्छिन्नता अवश्य ही होगी तो इस शंका को दूर करते हैं—

अहमाकाशवत्सर्वबहिरन्तर्गतोऽच्युतः ।
सदा सर्वसमः शुद्धो निःसंगो निर्मलोऽचलः ॥३५॥

सान्वय भाषार्थः—(अहम्) मैं (सदा) सर्वदा (आकाशवत्) आकाशके समान (सर्वबहिरन्तर्गतः) सब जड और दृश्य पदार्थों के भीतर व्याप्त हूँ और सब से भिन्न हूं, किसी में लिप्त नहीं हूं । कदाचित् कहो कि दृश्य पदार्थों का तो नाश हो जाता है फिर आत्माका नाश क्यों नहीं होता है? तो उत्तर देते हैं कि मैं (अच्युतः) अच्युत हूँ अर्थात् जब यह कल्पित संसार नष्ट हो जाता है । तब भी मैं यथावस्थित रहता हूं क्योंकि मैं अधिष्ठानरूप हूँ । अब प्रश्न होता है कि तू अधिष्ठान रूप होने से विनाश रहित तो है परन्तु अंतःकरणमें तो तेरी सत्ता और चेतनता दोनों प्रतीत होती हैं और घट आदि में केवल सत्ता ही प्रतीत होती है, चेतना नहीं इस कारण आत्मामें विषमता है क्योंकि आत्मा (सर्वसमः) सब पदार्थों में तुल्य है और सतोगुणके कार्य होने से (शुद्धः) स्वच्छ अन्तःकरण आदि में सत्ता और चेतना दोनों प्रतीत होती है इसमें इस आत्मा का क्या अपराध है और मैं शुभ अर्थात् पुण्य-पाप से रहित हूँ और (निःसङ्गः) असंग हूँ अर्थात् सब के सम्बन्ध से भिन्न हूँ और

(निर्मलः) निर्मल हूँ अर्थात् संशयादिरूपी मलों से रहित हूं और (अचलः) अचल (अस्मि) हूँ क्योंकि सच्चिदानन्द अपने धर्मों से चलायमान नहीं होता ॥३५॥

जैसे कि "त्वं पदार्थ" जीवात्मा का लक्ष्य स्वरूप वर्णन किया था उसी प्रकार 'तत्पदार्थ' परमात्मा का लक्ष्य स्वरूप वर्णन किया और अब उन दोनों की एकता सिद्ध करते हैं--

नित्यशुद्धविमुक्तैकमखण्डानन्दमद्वयम् ।
सत्यं ज्ञानमनन्तं यत्परं ब्रह्माहमेव तत् ॥३६॥

सान्वय भाषार्थः—(यत्) जो (नित्यशुद्धविमुक्तैकम्) नित्य अर्थात् तीनों कालों में शुद्ध अर्थात् अविद्या आदि मल से रहित और विमुक्त अर्थात् संसार से विरक्त और एक अर्थात् सजातीय भेदशून्य और (अखण्डानन्दम्) अखण्ड नाम देश काल परिच्छेदशून्य तथा आनन्द स्वरूप (अद्वयम्) अद्वितीय नाम विजातीय और स्वगत भेदशून्य जो (सत्यं ज्ञानं) सत्य ज्ञान (अनन्तं) अनन्त स्वरूप (परं ब्रह्म) ब्रह्म है (तत्) सो (अहमेव) मैं ही हूँ। और श्रुति में भी यही कहा है कि "सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म" ॥३६॥

बहुत कालपर्यन्त अभ्यास करने से जब ब्रह्म दृढ़ हो जाता है और आत्मा का ज्ञान हो जाता है तब उसका क्या फल होता है ? उसे बतलाते हैं—

एवं निरन्तराभ्यस्ता ब्रह्मैवास्मीति वासना ।
हरत्यविद्याविक्षेपान् रोगानिव रसायनम् ॥३७॥

सान्वय भाषार्थः —('अहम्') मैं (ब्रह्म एव अस्मि) ब्रह्म ही हूँ (एवम्) इस प्रकार (निरन्तराभ्यस्ता) निरन्तर अभ्यास करने से जो (वासना) वासना उत्पन्न होती है वह (अविद्याविक्षेपान्) चित्त के विक्षेप को अर्थात् आत्मा और ब्रह्म के भेदज्ञान को इस प्रकार (हरति) नाश कर देती है जिस प्रकार बहुत काल तक सेवन करने से (रसायनम्) रसायन औषध (रोगात् इव) रोगों को नष्ट कर देती है ॥३७॥

अब ब्रह्म और आत्मा की एकता के साधन कहते हैं—

विविक्तदेशे आसीनो विरागो विजितेन्द्रियः।
भावयेदेकमात्मानं तमनन्तमनन्यधीः ॥३८॥

सान्वय भाषार्थः—(विरागः) विराग अर्थात् शब्दादि विषयों की इच्छा से रहित और (विजितेन्द्रियः) जिसने विशेष करके इन्द्रियों को वश में कर लिया है और (अनन्यधीः) अनन्यधी अर्थात् ब्रह्म में निश्चलबुद्धि वाला अर्थात् जो यह माने कि मैं ब्रह्म से भिन्न नहीं हूँ ऐसा पुरुष (विविक्तदेशे) एकान्त में (आसीनः) बैठा हुआ (तं) उस (अनन्तं) अविनाशी (एकं) अद्वितीय (आत्मानं) आत्मा का (भावयेत्) साधन करे। तब ब्रह्म और आत्मा की एकता का ज्ञान होता है ॥३८॥

शङ्का—कदाचित् यह प्रश्न करो कि दृश्यप्रपञ्च तो व्यवहार दशा में प्रत्यक्ष है फिर एकता की साधना किस तरह होगी ? तो इसका उत्तर देते हैं —

आत्मन्येवाखिलं दृश्यं प्रविलाप्य धिया सुधीः ।
भावयेदेकमात्मानं निर्मलाकाशवत्सदा ॥३९॥

सान्वय भाषार्थः—(सुधीः) सुधी अर्थात् जिसका अन्तःकरण शुद्ध है ऐसा अधिकारी पुरुष (अखिलं) सम्पूर्ण (दृश्यम्) दृश्य प्रपञ्च को (धिया) अपनी बुद्धि से (आत्मनि एव) आत्मा में ही (प्रविलाप्य) लीन करे ॥

अर्थात् आत्मा में जो कथन मात्र विकार है उसे दूर करके पृथ्वी को जल में लीन करे, जल को तेज में लीन करे, तेज को वायु में लीन करे, वायु को आकाश में लीन करे और आकाश को मूल प्रकृति जो माया है उसमें लीन करे और मूल प्रकृति को शुद्ध ब्रह्म में लीन करे ।

इसके बाद (सदा) सर्वदा (आत्मानं) आत्मा को इस प्रकार (एकं) एक रस (भावयेत्) चिन्तना करे (निर्मलाकाशवत्) जैसे शरत्काल में आकाश निर्मल होता है ॥३९॥

विवेकी पुरुष सम्पूर्ण दृश्य प्रपञ्च को त्याग कर समाधि में किस रूप से स्थित होता है, उसे कहते हैं—

नामवर्णादिकं सर्वं विहाय परमार्थवित् ।
परिपूर्णचिदानन्दस्वरूपेणावतिष्ठते ॥४०॥

सान्वय भाषार्थः—(परमार्थवित्) परमार्थ अर्थात् मोक्ष अथवा ब्रह्म रूप का जानने वाला ज्ञानी पुरुष (नामवर्णादिकम्) नाम वर्णादिक कहिए दृश्यमान प्रपञ्च जो जाति मूर्ति आदि हैं, उन (सर्वम्) सब को (विहाय) त्यागकर

(परिपूर्णचिदानन्दस्वरूपेण) परिपूर्ण व्यापक अधिष्ठान, अन्तर्यामी, सच्चिदानन्दस्वरूप होकर (अवतिष्ठते) स्थित होता है अर्थात् अपने आत्मा को परिपूर्ण आदि स्वरूप ही मानता है जैसा कि कृष्णचन्द्र ने गीता में वर्णन किया है--

"यथा दीपो निवातस्थो नेङ्गते सोपमा स्मृता ।
योगिनो यतचित्तस्य युञ्जतो योगमात्मनः ॥"

अर्थात जैसे वायु रहित स्थान में दीपक, निश्चल स्थित होता है वैसे ही जिस योगी का चित्त वश में है और जो योगमार्ग में लगा है वह निश्चल है ॥४०॥

शङ्का--जो यह कहो कि 'समाधि में जब पृथ्वी आदि दृश्य प्रपञ्च लय हो जायंगे तब ज्ञाता ज्ञान और ज्ञेयके भेदरूप त्रिपुटी प्रपञ्चलक्षणक होने पर पूर्वोक्त दीपक की उपमा कैसे घटेगी ? इस शङ्का का निराकरण आगे के श्लोक से है--

ज्ञातृज्ञानज्ञेयभेदः परमात्मनि न विद्यते ।
चिदानन्दैकरूपत्वाद्दीप्यते स्वयमेव हि ॥४१॥

सान्वय भाषार्थः—(परात्मनि) परमात्मा में (ज्ञातृज्ञानज्ञेयभेदः) ज्ञाता, ज्ञान और ज्ञेयका भेद (न विद्यते) नहीं होता है (हि) क्योंकि वह (परात्मा) परमात्मा तो (चिदानन्दैकरूपत्वात्) चिदानंदस्वरूप होने से (स्वयम् एव) आपही (दीप्यते) प्रकाशित होता है, अर्थात् उसके ज्ञान के लिए किसी भी ज्ञान की आवश्यकता नहीं है । सारांश यह है कि सविकल्प समाधि में ज्ञाता आदि का भेद प्रतीत होता है और निर्विकल्प समाधि में नहीं होता ॥४१॥

जो ब्रह्म और आत्मा की एकता के लिए किया जाता है उस प्रयत्न के प्रत्यक्ष फल का वर्णन यों करते हैं—

एवमात्मारणौ ध्यानमथने सततं कृते।
उदितावगतिर्ज्वाला सर्वाज्ञानेन्धनं दहेत् ॥४२॥

सान्वय भाषार्थः—(एवम्) इस प्रकार (आत्मारणौ) आत्मारूपी अरणीके (सततं) निरन्तर (ध्यानमथने कृते) ध्यान रूपके साथ मथन होने पर अर्थात् आपस में रगड़ खाने से (उदिता) प्रगट हुई (अवगतिः) ज्ञान स्वरूप (ज्वाला) ज्वाला (सर्वाज्ञानेन्धनम्) सम्पूर्ण अज्ञान और जन्म मरणादि अज्ञान के कार्यरूपी इन्धन को (दहेत्) भस्म कर देती है।

इसमें श्रुति का भी प्रमाण है कि—आत्मानमरणिं कृत्वा प्रणवं चोत्तरारणिम्। ज्ञाननिर्मथनाभ्यासाद्दहेत्कर्म स पंडितः" अर्थात् मन को नीचे की ओर ओंकार को ऊपर की अरणि बना कर ज्ञान की मन्थानी से जो भस्म करता है उसी को पण्डित कहते हैं ॥४२॥

दृष्टान्त—अब प्रश्न होता है कि पूर्वोक्त उत्पन्न हुई ज्वाला से अज्ञानरूपी इन्धन कैसे भस्म होती है और आवरणरहित आत्माका कैसे प्रकाश होता है? इसका उदाहरण बतलाते हैं—

अरुणेनेव बोधेन पूर्वसन्तमसे हृते।
तत् आविर्भवेदात्मा स्वयमेवांशुमानिव ॥४३॥

सान्वय भाषार्थः—(पूर्वसन्तमसे हृते) जिस तरह सूर्य

अपने उदय होने से पहिले (अरुणेन इव) अपनी लाल किरणों के द्वारा अंधकार को नष्ट कर देता है फिर (स्वयम् एव) सूर्य उदय होता है इसी तरह (बोधेन) ज्ञान की छटा के द्वारा अज्ञानान्धकार को नाश करके फिर (आत्मा) आत्मा (अंशुमान् इव) सूर्य के समान (आविर्भवेत्) प्रकाशित होता है अर्थात् निर्मल ब्रह्म ज्ञान को प्राप्त हो जाता है।

ऐसा ही श्रीकृष्णचन्द्रजी ने गीता में कहा है कि—

ज्ञानेन तु तदज्ञानं येषां नाशितमात्मनः।
तेषामादित्यवज्ज्ञानं प्रकाशयति तत्परम्॥

अर्थात् जिनका अज्ञान ज्ञान से दूर हो गया है उनको ब्रह्म का ज्ञान सूर्य के समान प्रकाशित होता है॥४३॥

शंका–आत्मा तो साक्षात् अपरोक्ष है, अतएव नित्यप्राप्त है फिर 'जब अज्ञान का नाश हो जाता है तब ब्रह्म की प्राप्ति होती है' यह बात किस तरह सत्य हो सकती है क्योंकि जो वस्तु नित्य प्राप्त है वह परोक्ष और अप्राप्त नहीं हो सकती। इसका समाधान यह है—

आत्मा तु सततं प्राप्तोऽप्यप्राप्यवदविद्यया।
तन्नाशे प्राप्तवद्भाति स्वकण्ठाभरणं यथा॥४४॥

सान्वय भाषार्थः—(आत्मा) आत्मा ज्ञान दृष्टि से तो (सततम्) निरन्तर (प्राप्तः) प्राप्त है (अपितु) परन्तु वह (अविद्यया) अविद्या अर्थात् अज्ञान के द्वारा (अप्राप्यवत्) अप्राप्त सा ('भाति') दीखता है और (तन्नाशे) अविद्या के

नष्ट होने पर प्राप्त के समान इस प्रकार प्रतीत होता है (यथा) जैसे कोई मनुष्य किसी विशेष कारण से (स्वकण्ठाभरणम्) अपने गले में पड़े हुए हार को भूल कर अप्राप्तवत् कहता है फिर विस्मृति का नाश होने पर उस वस्तुको पुनः प्राप्त कहने लगता है ॥४४॥

शंका—जिसकी अपरोक्ष साक्षात्कार है वह ब्रह्म ही नित्य प्राप्त है और जीवात्मा नित्य प्राप्त नहीं हो सकता इसका समाधान यह है—

स्थाणौ पुरुषवद्भ्रान्त्या कृता ब्रह्मणि जीवता ।
जीवस्य तात्त्विके रूपे तस्मिन् दृष्टे निवर्तते ॥४५॥

सान्वय भाषार्थः—जैसे (भ्रान्त्या) अँधेरी रात में भ्रम से कोई मनुष्य (स्थाणौ) स्थाणु अर्थात् वृक्ष के ठूंठ में (पुरुषवत् जीवता कृता) पुरुष का ज्ञान करता है फिर विशेष रूप से निरीक्षण करने पर पुरुष न जान कर उसे स्थाणु ही कहने लगता है वैसे ही (ब्रह्मणि) ब्रह्म में (जीवता) जीव भाव प्रतीत होता है परन्तु "तत्त्वमसि" आदि महावाक्यों के द्वारा (तस्मिन्) जीव को जो (तात्त्विकरूपे) तात्त्विक रूप अर्थात् सत्यरूप है उसके (दृष्टे) जानने से जीव भाव (निवर्तते) निवृत्त हो जाता है ॥४५॥

शंका— ज्ञानी पुरुषों को भी 'तेरा' 'मेरा' लगा रहता है फिर यह बात कैसे निश्चय हो, कि ज्ञान होने से संसार के पदार्थों से निवृत्ति होती है ? इसका समाधान यह है—

तत्त्वस्वरूपानुभवादुत्पन्नं ज्ञानमंजसा ।
अहं ममेति चाज्ञानं बाधते दिग्भ्रमादिवत् ॥४६॥

सान्वय भाषार्थः—(तत्त्वस्वरूपानुभवात्) तत्त्वस्वरूपके अर्थात् तत्त्वमसि आदि महावाक्यों के द्वारा जीव और ब्रह्म की एकता के अनुभव से (उत्पन्नं) उत्पन्न हुए (ज्ञानं) ज्ञान से शीघ्र ही (अञ्जसा दिग्भ्रमादिवत्) दिशाओं के भ्रम के समान अर्थात् जैसे सूर्य के उदय होते ही प्रत्येक दिशा यथायोग्य प्रतीत होती है उसी प्रकार ('अहम्' 'मम' इति) "मैं हूँ" "मेरा है" यह जो (अज्ञानं) अज्ञान है सो ('तावदेव') तभी तक (बाधते) बाधा करता है (यावत्) जबतक ('ज्ञानं न भवति') ज्ञान नहीं होता और ज्ञान के होते ही अज्ञान संबन्धी जितने विषय हैं उनसे अपने आप निवृत्ति हो जायगी ॥

अब ज्ञानी पुरुषों की दृष्टिका वर्णन करते हैं--

सम्यग्विज्ञानवान् योगी स्वात्मन्येवाखिलं स्थितम् ।
एकं च सर्वमात्मानमीक्षते ज्ञानचक्षुषा ॥४७॥

सान्वय भाषार्थः—(सम्यक् विज्ञानवान्) जिसको संशय विपर्ययरहित साक्षात् दृढ़ ज्ञानहो उसे योगी कहते हैं ऐसा (योगी) योगी अपने (ज्ञानचक्षुषा) ज्ञानरूपी नेत्रों से (अखिलं) सम्पूर्ण विश्व को (स्वात्मनि एव) अपनी आत्मा में (स्थितं) स्थित और (सर्वं) सब को (एकं) एक (आत्मानं च) आत्मारूप (ईक्षते) देखता है क्योंकि जितना

दृश्यप्रपञ्च आत्मा से भिन्न है वह शशशृङ्ग और ख-पुष्प के समान मिथ्या कल्पित है ॥४७॥

शङ्का—अब यह शङ्का होती है कि 'संसार तो प्रत्यक्ष दीखता है और इसे ज्ञानी पुरुष आत्मा से भिन्न किस प्रकार देखता है ?' इसका समाधान यह है—

आत्मैवेदं जगत्सर्वमात्मनोऽन्यन्न विद्यते ।
मृदो यद्वद्घटादीनि स्वात्मानं सर्वमीक्षते ॥४८॥

सान्वय भाषार्थः—(यद्वत्) जैसे उपादानकारण मृत्तिका से बने हुए (घटादीनि) घटशरावादि (मृदः) मृत्तिका से भिन्न नहीं हैं (तथा) वैसेही (इदम्) यह (सर्वं) सम्पूर्ण (जगत्) जगत् उपादानकारण (आत्मा एव) आत्मा ही है (आत्मनः अन्यत् न विद्यते) उससे भिन्न नहीं है (अतः ज्ञानी) इसलिये ज्ञानी पुरुष (सर्वं) जगत् को (स्वात्मानं) आत्म स्वरूप ही (ईक्षते) देखता है ।

सारांश यह है कि उपादेय अर्थात् घटादि वा जगद्रूपकार्य सो उपादान है वह कारणरूप जो मृत्तिका और आत्मा इनसे भिन्न-सा प्रतीत होता है, किन्तु यथार्थ में भिन्न नहीं, यह भिन्न दीख पड़ना केवल अज्ञान से है ॥४८॥

अब जीवन्मुक्तिका वर्णन करते हैं—

जीवन्मुक्तिस्तु तद्विद्वान् पूर्वोपाधिगुणांस्त्यजेत् ।
सच्चिदानन्दरूपत्वाद्भवेद्भ्रमरकीटवत् ॥४९॥

सान्वय भाषार्थः—(जीवन्मुक्तिः) जीवनमुक्त पुरुष तो (तद्विद्वान्) प्रथम जो जीव और ब्रह्म की एकता कही है उसे जानकर (पूर्वोपाधिगुणान्) तत्त्वज्ञान से पूर्वकथित जो उपाधियों के गुण हैं उनको श्रवणादि द्वारा माया के धर्म जानकर ज्ञान से (त्यजेत्) त्याग देता है। (भ्रमरकीटवत्) जिस प्रकार भृङ्गी नाम कीड़ा भ्रमर के भय से भ्रमर हो जाता है उसी प्रकार ब्रह्मज्ञानी भी उपाधिरहित ब्रह्म में तन्मय हो (सच्चिदानन्दरूपत्वात्) सच्चिदानन्द स्वरूप हो जाता है ॥४९॥

जीवन्मुक्त पुरुष को रामचन्द्रावतार रूपसे वर्णन करते हैं—

तीर्त्वा मोहार्णवं हत्वा रागद्वेषादिराक्षसान् ।
योगी शान्तसमायुक्तो ह्यात्मारामोविराजते ॥५०॥

सान्वय भाषार्थः—जिस प्रकार श्री रामजी समुद्र को लांघ कर संपूर्ण राक्षसों का विनाश करके सुहृद् और अमात्य वर्गों से युक्त हो विराजमान हुए थे वैसे ही (योगी) योगी भी (मोहार्णवं) मोह रूपी समुद्र को (तीर्त्वा) पार करके (रागद्वेषादिराक्षसान्) राक्षसरूपी सम्पूर्ण राग द्वेषादि का (हत्वा) विनाश करके (शान्तसमायुक्तः) ज्ञान वैराग्यादि सुहृद् और अमात्य वर्ग से समायुक्त (आत्मारामः) आत्माराम होकर (विराजते) विराजता है ॥५०॥

बाह्यानित्यसुखासक्तिं हित्वाऽऽत्मसुखनिर्वृतः ।
घटस्थदीपवत्स्वच्छः स्वान्तरेव प्रकाशते ॥५१॥

सान्वय भाषार्थः—(बाह्यानित्यसुखासक्तिं) नेत्र आदि बाहर की इन्द्रियों का विषयों के साथ सम्बन्ध होने से उत्पन्न जो विषयानन्दरूपी अनित्य सुख, उसकी प्रीति को (हित्वा) त्याग कर और (आत्मसुखनिर्वृत्तः) आत्मा के सुख से सुखी होकर (स्वच्छः सन्) स्वच्छरूप से ब्रह्मरूप (स्वान्तः एव) अपने अन्तःकरण में (घटस्थदीपवत्) घट के भीतर दीपक के समान (प्रकाशते) प्रकाशमान होता है ।

गीता में भी यही लिखा है कि—

"प्रजहाति यदा कामान् सर्वान् पार्थ ! मनोगतान् ।
आत्मन्येवात्मना तुष्टः स्थितप्रज्ञस्तदोच्यते ॥ १ ॥"

अर्थात् हे अर्जुन ! जब अपने मन की सम्पूर्ण कामनाओं को त्याग देता है तब अपने आत्मा ही में संतुष्ट होकर वह स्थिरबुद्धि कहलाता है ॥५१॥

**उपाधिस्थोऽपि तद्धर्मैर्न लिप्तो व्योमवन्मुनिः ।
सर्वविन्मूढवत्तिष्ठेदसक्तो वायुवच्चरेत् ॥५२॥**

सान्वय भाषार्थः—(मुनिः) मुनि अर्थात् वेदान्त शास्त्र का मनन करनेवाला तत्त्वज्ञानी (उपाधिस्थः) उपाधियों में स्थित होकर (अपि) भी (तद्धर्मैः न लिप्तः) उपाधियों के सुख आदि धर्मों से ऐसे लिप्त नहीं होता (व्योमवत्) जैसे आकाश धूल से नहीं होता और यद्यपि (सर्ववित्) सर्वज्ञ भी है ('तथापि') तथापि (मूढवत्) मूढ के समान (तिष्ठेत्) व्यवहार करे और (असक्तः) प्रारब्धानुसार प्राप्त हुए विषयों

में न लगकर (वायुवत्) पवन के समान (चरेत्) विचरे अर्थात् जैसे पवन सुगन्धित पदार्थों को छोड़कर विचरता है उसी प्रकार तत्त्वज्ञानी भी विषयों को छोड़ अपने स्वरूप से विचरे ॥५२॥

अब ज्ञानी की विदेह कैवल्यमुक्ति का वर्णन करते हैं—

उपाधिविलयाद्विष्णौ निर्विशेषं विशेन्मुनिः।
जले जलं वियद् व्योम्नि तेजस्तेजसि वा यथा ॥५३॥

सान्वय भाषार्थः—(यथा) जैसे (जले) जल में (जलं) जल अर्थात् जैसे नदी अपना रूप छोड़कर समुद्ररूप हो जाती है और (व्योम्नि) आकाश में (वियत्) आकाश अर्थात् जैसे घटाकाश अपनी उपाधि छोड़कर आकाश में मिल जाता है और (तेजसि) तेज़ में (तेजः) तेज अर्थात् जैसे दीपक का तेज अपनी उपाधि छोड़कर अग्नि में मिल जाता है (तथैव) उसी प्रकार (मुनिः) मुनि अर्थात् वेदान्त का मनन करनेवाला ज्ञानी पुरुष (उपाधिविलयात्) देह आदि उपाधियों के नष्ट होने से (विष्णौ) व्यापकरूप परब्रह्म में (निर्विशेषम्) सम्पूर्ण रीति से (विशेत्) लय हो जाता है ॥५३॥

अब उस परब्रह्म का निरूपण करते हैं कि जिसकी विदेह-मुक्ति में प्राप्ति होती है—

यल्लाभान्नापरो लाभो यत्सुखान्नापरं सुखम्।
यज्ज्ञानान्नापरं ज्ञानं तद्ब्रह्मेत्यवधारयेत् ॥५४॥

सान्वय भाषार्थः—(यल्लाभात्) जिस परब्रह्म के परे लाभ से (अपरः) दूसरा (लाभः) लाभ (न) नहीं क्योंकि ब्रह्म के लाभ से सम्पूर्ण जगत् का लाभ अन्तर्गत है और (यत्सुखात्) जिसके सुख से (अपरं) दूसरा (सुखं) सुख (न) नहीं है क्योंकि उसका सुख सर्वोत्तम है और संसारमात्र के सुख उसके अन्तर्गत हैं। और (यज्ज्ञानात्) जिसके ज्ञान से (अपरं) कोई दूसरा (ज्ञानं) ज्ञान (न) नहीं है क्योंकि जो ब्रह्मज्ञान मोक्षका कारण है उससे दूसरा कोई श्रेष्ठ हो नहीं सकता। अत एव (तत्) ऐसा जो है उसी को ज्ञानी पुरुष (ब्रह्म इति) ब्रह्मरूप (अवधारयेत्) निश्चय करे ॥५४॥

यद्दृष्ट्वा न परं दृश्यं यद्भूत्वा न पुनर्भवः।
यज्ज्ञात्वा न परं ज्ञानं तद्ब्रह्मेत्यवधारयेत् ॥५५॥

सान्वय भाषार्थः—(यत्) जिस परब्रह्म के (दृष्ट्वा) देखने पर अर्थात् साक्षात्कार होने पर (परं दृश्यं न) कोई दूसरा पदार्थ देखने के योग्य नहीं रहता है [ब्रह्म के दीखने पर सब जगत् दीखता है, साक्षात्कार हो जाता है] और (यद् भूत्वा) जिस ब्रह्म रूप होने से (पुनर्भवः न) फिर दूसरा जन्म संसार में नहीं होता है।

जैसा श्रीकृष्ण ने गीता में लिखा है कि 'यद्गत्वा न निवर्तन्ते तद्धाम परमं मम' अर्थात् जिस ब्रह्म में जाकर फिर निवृत्ति नहीं होती है। वही मेरा परम धाम है।

(यत् ज्ञात्वा) जिसको जान कर (परं ज्ञानं न) कोई

दूसरे पदार्थ के जानने की आवश्यकता नहीं रहती [क्योंकि कार्य की सत्ता कारण से भिन्न नहीं रहती है, कारण के ज्ञान से ही समस्त कार्य का ज्ञान हो जाता है] (तत्) उसीको (ब्रह्म इति) ब्रह्म (अवधारयेत्) जानना चाहिये ॥५५॥

शंका—पूर्वोक्त प्रमाणों से यह निश्चित किया कि ज्ञानी विदेह कैवल्य अवस्था में स्थित होकर परब्रह्म को प्राप्त होता है। अब ऐसी शंका होती है कि वह ब्रह्म परिच्छिन्न (एक देश में रहने वाला) है अथवा अपरिच्छिन्न (सर्वव्यापक)। जो यह कहें कि परिच्छिन्न है तो नाशवान् होने से परम पुरुषार्थ सिद्ध नहीं होता है। और जो अपरिच्छिन्न कहें तो सर्वव्यापक होने से उसकी प्राप्ति नहीं हो सकती। इसलिए इस शङ्काका समाधान करते हैं—

तिर्यगूर्ध्वमधः पूर्णः सच्चिदानन्दमद्वयम् ।
अनन्तनित्यमेकं यत्तद्ब्रह्मेत्यवधारयेत् ॥५६॥

सान्वय भाषार्थः—(यत्) जो (तिर्यक्) पूर्व आदि चारों दिशाओं में, और (ऊर्ध्वं) ऊपर (अधः) नीचे सर्वत्र (सच्चिदानन्दं) सच्चिदानन्द आनन्द द्वारा (पूर्णः) परिपूर्ण अथवा (अद्वयम्) अद्वितीय अर्थात् उसके सिवाय और कोई पदार्थ नहीं एवं जो (अनन्तं) अनन्त देशकालवस्तु के परिच्छेद से रहित और (नित्यं) नित्य अर्थात् सत्य (एकम्) जो एक अर्थात् स्वजातीय विजातीय वस्तु से वर्जित है उसी को (ब्रह्म इति) ब्रह्म (अवधारयेत्) कहते हैं ॥५६॥

अतद्व्यावृत्तिरूपेण वेदान्तैर्लक्ष्यतेऽव्ययम् ।
अखण्डानन्दमेकं यत्तद्ब्रह्मेत्यवधारयेत् ॥५७॥

सान्वय भाषार्थः—(यत्) जो (वेदान्तैः) वेदान्त वाक्य द्वारा (अतद्व्यावृत्तिरूपेण) अतद्व्यावृत्ति अर्थात् यह नहीं है, यह नहीं है इस तरह सम्पूर्ण प्रपंच पदार्थ का निषेध करके जो स्वयं निषिद्ध नहीं होता है और उसी रूप में (लक्ष्यते) लक्षित होता है और (अव्ययम्) जिससे भिन्न दूसरी कोई वस्तु नहीं है और जो (अखण्डानन्दम्) निरवच्छिन्न आनन्द स्वरूप तथा (एकं) एक अर्थात् स्वजातीय भेदसे शून्य है (तत्) उसी को (ब्रह्म इति) ब्रह्म (अवधारयेत्) मानना चाहिए ॥५७॥

शंका—शास्त्र में तो ब्रह्मा आदि को भी अखण्ड आनन्दस्वरूप कहा है, फिर यहाँ केवल ब्रह्म को ही क्यों कहा ? इस शंका का समाधान यह है—

अखण्डानन्दरूपस्य तस्यानन्दलवाश्रिताः ।
ब्रह्माद्यास्तारतम्येन भवन्त्यानन्दिनोऽखिलाः ॥५८॥

सान्वय भाषार्थः—(तस्य) उस (अखण्डानन्दरूपस्य) अखण्डानन्दस्वरूप (आनन्दलवाश्रिताः) परब्रह्म के आनन्दका जो लेश है उसका आश्रय लेकर (अखिलाः) सम्पूर्ण (ब्रह्माद्याः) ब्रह्मादिक देवता (तारतम्येन) अपनी अपनी उपाधिका तारतम्य करके अर्थात् अपने २ पुण्य के अनुसार न्यून और अधिक (आनन्दिनः) आनन्दयुक्त (भवन्ति) होते हैं। अत एव

ब्रह्मादिकों को जो आनंद है सो सब ब्रह्मानन्द के ही अन्तर्गत है और ज्ञानी पुरुष विदेह अवस्था में स्थित होकर उसी को पाते हैं ॥५८॥

शंका—जो यह कहो कि वह परब्रह्म जिसके आनन्द के लेश में ब्रह्मा आदि सम्पूर्ण देवता आनन्दित रहते हैं सो कहां रहता है? तो इसका समाधान करते हैं—

तद्युक्तमखिलं वस्तु व्यवहारस्तदन्वितः।
तस्मात्सर्वगतं ब्रह्म क्षीरे सर्पिरिवाखिले ॥५९॥

सान्वय भाषार्थः—(अखिले क्षीरे) जैसे दूध के सर्वांश में (सर्पिः इव) घृत अभेद रूप से परिव्याप्त रहता है वैसे ही (तद्युक्तं) ब्रह्म से घटपटादि (अखिलं) समस्त (वस्तु) वस्तु और (व्यवहारः) वचन, दान, गमनादि संपूर्ण व्यवहार (तदन्वितः) ब्रह्म से अन्वित होते हैं (तस्मात्) इसलिए वह (ब्रह्म) ब्रह्म (सर्वगतम्) प्रत्येक पदार्थ में अभेद रूप से व्याप्त है।

ऐसा ही श्रीकृष्ण ने गीता में कहा है—

सर्वेन्द्रियगुणाभ्यासं सर्वेन्द्रियविवर्जितम्। अर्थात् वह ब्रह्म सब इन्द्रियों के गुणों का प्रकाशक और सम्पूर्ण इन्द्रियों से रहित है। अतएव ब्रह्म सर्वव्यापक सिद्ध है ॥५९॥

शंका—'परमात्मा तो सब प्रपंच में अनुगत है फिर उसको प्रपंच के धर्मों का स्पर्श क्यों नहीं होता?' इस शंका का समाधान यों करते हैं—

अनण्वस्थूलमह्रस्वमदीर्घमजमव्ययम् ।
अरूपगुणवर्णाख्यं तद्ब्रह्मेत्यवधारयेत् ॥६०॥

सान्वय भाषार्थः—(यत्) जो वस्तु (अनणु) न सूक्ष्म है (अस्थूलं) न स्थूल है (अह्रस्वं) न छोटा है (अदीर्घं) न दीर्घ है (अजं) जो जन्य भी नहीं है अर्थात् किसी दूसरे द्वारा उत्पन्न नहीं होती है और (अव्ययं) न विनाशशील है तथा (अरूपगुणवर्णाख्यं) रूप, गुण और ब्राह्मणादि वर्ण के नाम से भी रहित है (तत्) उसको (ब्रह्म इति) ब्रह्म (अवधारयेत्) जाने ॥६०॥

यद्भासा भासतेऽर्कादिर्भास्यैर्यत्तु न भास्यते ।
येन सर्वमिदं भाति तद्ब्रह्मेत्यवधारयेत् ॥६१॥

सान्वय भाषार्थः—(यद्भासा) जिसके तेज के प्रभाव से (अर्कादिः) सूर्य चन्द्र आदि ज्योति (भासते) पूर्ण प्रकाशमान होते हैं और (यत्) जो (भास्यैः) अपने प्रकाश से प्रकाशित हुए सूर्यादि से (न भास्यते) प्रकाशित नहीं होता है और (येन) जिससे (इदं) यह (सर्वं 'जगत्') सब जगत् (भाति) प्रकाशित हो रहा है (तत्) वह (ब्रह्म इति) ब्रह्म है ऐसा (अवधारयेत्) निश्चय करना चाहिए ॥६१॥

स्वयमन्तर्बहिर्व्याप्य भासयन्नखिलं जगत् ।
ब्रह्म प्रकाशते वह्निप्रतप्तायसपिण्डवत् ॥६२॥

सान्वय भाषार्थः—(वह्निप्रतप्तायसपिण्डवत्) जैसे अग्नि

तप्त लोहे के गोले के (अन्तर्बहिः) भीतर और बाहर (व्याप्य) व्याप्त होकर उसको भी प्रकाशित करता है और (स्वयं) आप भी (प्रकाशते) प्रकाशित होता है उसी तरह (ब्रह्म) ब्रह्म भी (अखिलं) सम्पूर्ण (जगत्) जगत् को (भासयन्) प्रकाशित करता हुआ (स्वयं) आप भी (प्रकाशते) प्रकाशित होता है। जैसे लोहे के गोलेके भीतर बाहर अग्नि व्याप्त है उसी प्रकार ब्रह्म जगत् में व्याप्त है, कोई स्थान उससे रहित नहीं है ॥६२॥

जगद्विलक्षणं ब्रह्म ब्रह्मणोऽन्यत्र किञ्चन।
ब्रह्मान्यद्भाति चेन्मिथ्या यथा मरुमरीचिका ॥६३॥

सान्वय भाषार्थः-(ब्रह्म) ब्रह्म (जगद्विलक्षणम्) जगत से विलक्षण है और (ब्रह्मणः) ब्रह्म से (अन्यत्र) भिन्न (किञ्चन न चेत्) कुछ नहीं है और जो (ब्रह्मान्यत्) ब्रह्म से भिन्न (भाति) प्रतीत होता है जैसे घटपटादि पदार्थ सो (मरुमरीचिका यथा) मृगतृष्णा के समान (मिथ्या) मिथ्या है। सारांश यह है कि जड़ मिथ्या दुःखरूप जगत् से सच्चिदानन्दरूप ब्रह्म अलग है, अतएव ब्रह्म ही सत्य है और सब मिथ्या है ॥६३॥

दृश्यते श्रूयते यद्यद्ब्रह्मणोऽन्यत्र तद्भवेत्।
तत्त्वज्ञानाच्च तद्ब्रह्मसच्चिदानन्दमद्वयम् ॥६४॥

सान्वय भाषार्थः-(यत् दृश्यते) जो कुछ देखने में आता है और (यत् श्रूयते) जो कुछ सुनने में आता है आदि (तत्) वह (ब्रह्मणः) ब्रह्म से (अन्यत्र) अन्य (भवेत्) कुछ नहीं है

अर्थात् सम्पूर्ण ब्रह्म ही है इसका कारण यह है कि (तत्) वह (ब्रह्म) ब्रह्म (तत्त्वज्ञानात्) तत्त्वज्ञान से ही (सच्चिदानन्दं) सच्चिदानन्द और (अद्वयम्) अद्वैत रूप में प्रकाशित होता है।

शङ्का-यदि सच्चिदानन्दस्वरूप ब्रह्म सर्वव्यापक है तो सर्वत्र क्यों नहीं दीखता ? इसका समाधान करते हैं—

सर्वगं सच्चिदात्मानं ज्ञानचक्षुर्निरीक्षते।
अज्ञानचक्षुर्नेक्षेत भास्वन्तं भानुमन्धवत् ॥६५॥

सान्वय भाषार्थः—जिन पुरुषों के (ज्ञानचक्षुः) ज्ञानरूपी चक्षु हैं उनको (सर्वगं) सर्वव्यापी (सच्चिदात्मानं) सच्चिदानन्दरूप (निरीक्षते) दीखता है और जिस पुरुष के (अज्ञानचक्षुः) अज्ञानरूपी चक्षु है अर्थात् जो अज्ञानी है वह उस (भास्वन्तं) प्रकाशमान आत्मा को (न ईक्षेत) ऐसे नहीं देख सकता (अन्धवत्) जैसे अन्धा पुरुष (भानुम्) सूर्य को नहीं देख सकता ॥६५॥

शङ्का—जो यह शङ्का करो कि जिनके ज्ञानरूपी नेत्र हैं ऐसे पुरुषों को विवेक के कारण यद्यपि देहादि इन्द्रियों में अध्यासरूप मल दूर हो जाते हैं तथापि पूर्व जन्म के अध्यास से संसार की वासना के वश में होकर 'अहं मनुष्यः' ('मैं मनुष्य हूँ') ऐसा देहरूपी बन्धन प्रतीत होता है, तो फिर आत्मस्वरूप में स्थित होकर मुक्ति किस प्रकार हो सकती है ? तो समाधान करते हैं--

श्रवणादिभिरुद्दीप्तो ज्ञानाग्निपरितापितः ।
जीवः सर्वमलान्मुक्तः स्वर्णवद्द्योतते स्वयम् ॥६६॥

सान्वय भाषार्थः—(श्रवणादिभिः) श्रवणादि अर्थात् श्रवण, मनन, निदिध्यासन इनसे (उद्दीप्तः) उत्पन्न हुई ऐसी (ज्ञानाग्निपरितापितः) ज्ञानरूपी अग्नि से परितापित अर्थात् युक्त (जीवः) जीव (सर्वमलात्) सम्पूर्ण मल से (मुक्तः) छूटकर (स्वर्णवत्) अग्नि से तपे हुए सुवर्ण के समान (स्वयं) स्वयं (द्योतते) प्रकाशित होता है। और प्रकाशमान होने पर उसको 'मेरा है' या 'मैं हूँ' ऐसा अभिमान नहीं होता ॥६६॥

शंका—जो यह कहो कि जो आत्मा शुद्ध हो जाता है, उसका कैसा रूप होता है और वह कहाँ उदय होता है और किसे प्रकाशित करता है? तो इन शंकाओंके उत्तर में कहते हैं कि—

हृदाकाशोदितो ह्यात्मा बोधभानुस्तमोपनुत् ।
सर्वव्यापी सर्वधारी भाति सर्वं प्रकाशते ॥६७॥

सान्वय भाषार्थः—इस प्रकार जीव और आत्मा के ज्ञान से निर्मल (बोधभानुः) बोधरूपी सूर्य (आत्मा) आत्मा (हृदाकाशोदितः) हृदयरूपी आकाश में उदय होकर (तमोऽपनुत्) अन्तःकरण के मलरूपी अन्धकारको नाश करता है और सबको प्रकाशित करता हुआ स्वयं प्रकाशमान होता है।

(हि) अब जो बीच में यह शंका करो कि हृदयरूपी

आकाश तो परिच्छिन्न है और जब वहां आत्मा का उदय होगा तो आत्मा उसके संसर्ग से परिच्छिन्न अर्थात् नाशवान् हो जायगा तो उसका यह समाधान है कि--

(आत्मा) आत्मा (सर्वव्यापी) अर्थात् सब जगत् में व्यापक है और (सर्वधारी) सर्वधारी अर्थात् जगत् का जो अज्ञान कार्य है, उसका अधिष्ठानरूप है और (सर्वं) सबको (प्रकाशते) प्रकाशित करता है और आप (भाति) प्रकाशमान है। सारांश यह है कि व्यापकरूप आत्मा का अपरूप हृदयाकाश कदापि नाशक नहीं हो सकता ॥६७॥

शंका—अब आत्मतत्त्वज्ञान को तीर्थरूपसे वर्णन करते हैं, क्योंकि जो फल संपूर्ण तीर्थ और देवताओं की सेवा का है उसमें अधिक फल आत्मज्ञानरूपी तीर्थ का है, क्योंकि आत्मा की सेवा से फिर किसी की सेवा की आकांक्षा नहीं रहती है। कदाचित् यह शंका करो कि आत्मज्ञानी भी तो अपने स्वाभाविक पाप दूर करने के लिए काशी आदि तीर्थों में जाते हैं और प्रथम (६६ वें श्लोक में) कह आये हो कि ज्ञानी पुरुष सुवर्ण के समान प्रकाशमान और सम्पूण मल से रहित है सो कैसे हो सकता है ? तो इस शंका को दूर करते हैं—

दिग्देशकालाद्यनपेक्षि सर्वगं
शीतादिहृन्नित्यसुखं निरंजनम् ।
यः स्वात्मतीर्थं भजते विनिष्क्रियः
स सर्ववित्सर्वगतोऽमृतो भवेत् ॥६८॥

सान्वय भाषार्थः—(यः) जो आत्मज्ञानी पुरुष एकाग्रचित्त होकर (दिग्देशकालाद्यनपेक्षि) पूर्व पश्चिम उत्तर दक्षिण आदि दिशा और कुरु पञ्चाल सौराष्ट्र अवन्ति, दशार्ण आदि देश और भूत, भविष्यत्, वर्तमान काल की अपेक्षा से रहित (सर्वगं) सर्वव्यापकरूप और (शीतादिहृत्) शीत और उष्ण इन दोनों के नाशक और (नित्यसुखं) नित्यसुखस्वरूप और (निरञ्जनं) निरंजन अर्थात् माया के कार्य गत रूप मल से रहित (स्वात्मतीर्थं) आत्मतीर्थ का (विनिष्क्रियः) सब प्रकार की क्रियाओं को छोड़ (भजते) सेवन करता है (सः) वह (सर्वगतः) सर्वव्यापक और (सर्ववित्) सर्वज्ञाता होकर (अमृतः) अमृतरूप अर्थात् ब्रह्मरूप (भवेत्) हो जाता है। अतएव मुमुक्षु पुरुषों को आत्मतीर्थ अवश्य सेवन करना चाहिए।

ऐसा ही महाभारत में लिखा है कि—

आत्मानदी संयमपुण्यतीर्था
सत्योदका शीलतटा दयोर्मिः ।
तत्राऽभिषेकं कुरु पाण्डुपुत्र !
न वारिणा शुद्धयति चान्तरात्मा ॥

अर्थात्—हे युधिष्ठिर ! इन्द्रियों को रोकना ही जिसका पुण्यतीर्थ है; सत्य ही जिसका जल है; शील जिसका तट है और दया ही जिसमें लहर है ऐसी आत्मरूपी नदी में स्नान करे क्योंकि केवल जल से ही (अन्तरात्मा) भीतर को आत्मा शुद्ध नहीं होती ॥

और भी अन्यत्र कहा है कि—

स्नातं तेन समस्ततीर्थसलिले, दत्ता च सर्वावनि-
र्यज्ञानां च कृतं सहस्रमखिला देवाश्च संपूजिताः।
संसाराच्च समुद्धृताः स्वपितरस्त्रैलोक्यपूज्योऽप्यसौ
यस्य ब्रह्मविचारणे क्षणमपि स्थैर्यं मनः प्राप्नुयात्॥

अर्थात्—जिस पुरुषका ब्रह्मके विचार में क्षणभर भी चित्त स्थिर हो गया हो तो समझ लेना चाहिए कि उसी मनुष्य ने सम्पूर्ण तीर्थों के जल में स्नान कर लिया, उसीने सम्पूर्ण पृथ्वीका दान कर लिया, उसनेही सहस्रों यज्ञ कर लिए, उसीने सम्पूर्ण देवताओं का पूजन किया है, उसी ने अपने पितरों को संसार से पार किया है और वही त्रैलोक्य में पूजनीय है॥ ६८॥

॥ ग्रन्थोऽयं समाप्तः॥

